चौंसठ रूसी कविताएँ

सन् १९४३-'६३ में रूपांतरित

बच्चन की अन्य रचनाएँ

१. चार खेमे चौंसठ खूँटे '६२
२. नये-पुराने झरोखे (निबंध-संग्रह) '६२
३. त्रिभंगिमा '६१
४. कवियों में सौम्य संत (पंत-काव्य-समीक्षा) '६०
५. ओथेलो (अनुवाद) '५९
६. बुद्ध और नाचघर '५८
७. जनगीता (अनुवाद) '५८
८. आरती और अंगारे '५८
९. मैकबेथ (अनुवाद) '५७
१०. धार के इधर-उधर '५७
११. प्रणय-पत्रिका '५५
१२. मिलन यामिनी '५०
१३. खादी के फूल '४८
१४. सूत की माला '४८
१५. बंगाल का काल '४६
१६. हलाहल '४६
१७. सतरंगिनी '४५
१८. आकुल अंतर '४३
१९. एकांत संगीत '३९
२०. निशा निमंत्रण '३८
२१. मधुकलश '३७
२२. मधुबाला '३६
२३. मधुशाला '३५
२४. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद) '३५
२५. उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अ०) '५९
२६. तेरा हार ('प्रारंभिक रचनाएँ' में सम्मिलित) '३२
२७. प्रारंभिक रचनाएँ: भाग १ कविताएँ '४३
२८. प्रारंभिक रचनाएँ: भाग २ कविताएँ '४३
२९. प्रारंभिक रचनाएँ: भाग ३ कहानियाँ '४६
३०. नेहरू : राजनीतिक जीवन चरित (अनुवाद) '६१
३१. बच्चन के साथ क्षणभर (संचयन) '३४
३२. सोपान (संकलन) '५३
३३. आधुनिक कवि (७) : बच्चन (संकलन) '६१
३४. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : सुमित्रानंदन पंत (संपादित) '६०
३५. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि : बच्चन (चंद्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित) '६०

*'मधुशाला' का अंग्रेजी ('५०) और 'बंगाल का काल' का बँगला ('४८) अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

*रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन-तिथि का संकेत है।

'बच्चन'

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	तीन रुपये
पहला संस्करण	:	जनवरी, १९६४
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली

समर्पण

रामचरितमानस के रूसी रूपांतरकार
अलेक्सेइ वरान्निकोव
की
पुण्य-स्मृति में
उनके पुत्र और पुत्र-वधू को

"पढ़ता हूँ अंग्रेजी जिसने द्वार विश्व कविता के खोले"

(आरती और अंगारे)

ब्रिटिश म्यूज़ियम में अंग्रेज़ों की विपुल अनुवाद-संपत्ति देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। अंग्रेज़ जाति के रुचि-वैविध्य ने न जाने कितनी भाषाओं की न जाने कितनी साहित्यिक निधियों को अंग्रेज़ी के भंडार में संचित कर दिया है। रूसी कविताओं का रसास्वादन भी मैंने अंग्रेज़ी अनुवादों के द्वारा किया। इनका हिंदी रूपांतर वस्तुतः हिंदी अनुवाद-दर-अनुवाद कहा जाना चाहिए—रूसी का अंग्रेज़ी में, अंग्रेज़ी का हिंदी में।

अपने विश्वविद्यालय-जीवन में रूसी कविता की ओर मेरा ध्यान नहीं गया। जहाँ तक मुझे याद है उन दिनों इलाहाबाद के विश्वविद्यालय-पुस्तकालय और पब्लिक लाइब्रेरी में रूसी कविताओं का कोई अंग्रेज़ी अनुवाद उपलब्ध नहीं था। उन दिनों हमारे विशेष आकर्षण के केंद्र थे रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव, दस्तायेव्स्की, तोल्सतोय, बाद को चेखोव और गोर्की। पब्लिक लाइब्रेरी से लेकर ज़ार और ज़ारीना के पत्रों का एक संकलन मैंने अवश्य पढ़ा था जिसमें उनके धर्मगुरु और मित्र रासपुतीन का ज़िक्र बार-बार आता था। उस विचित्र व्यक्तित्व पर मैंने एक बड़ी पुस्तक बाद को पढ़ी। उन्हीं दिनों तुर्गनेव लिखित गद्यकाव्य जैसी कोई चीज़ पढ़ने की भी स्मृति है, पर काव्य के नाम से मैंने रूस का कुछ भी नहीं पढ़ा था।

प्रगतिवादी आंदोलन के दिनों में रूस और उसके साहित्य का ज़िक्र बार-बार किया जाता था पर साहित्यकार के नाम पर केवल उपन्यासकार गोर्की का नाम लिया जाता था—किसी कवि का नाम नहीं सुनाई पड़ता था। बाद को मयाकोव्स्की पर एक किताब अंग्रेज़ी में निकली। यह पाँचवें दशक के प्रारंभिक वर्षों की बात है। मैं इलाहाबाद युनिवर्सिटी में अंग्रेज़ी अध्यापक के रूप में नियुक्त हो गया था। हमारे सहयोगी प्रगतिशील श्री प्रकाशचंद्र गुप्त ने संभवतः उसी पुस्तक के आधार पर मयाकोव्स्की पर एक लेख भी पढ़ा था। पुस्तक में मयाकोव्स्की की कई कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद भी थे। कवि में प्रखरता तो थी पर दिव्यता कहीं नहीं। विशेष

प्रभावित नहीं हुआ, पर रूसी कविता से मेरा प्रथम परिचय मयाकोव्स्की की रचनाओं के द्वारा ही हुआ। उसने अन्य कवियों के प्रति मेरी जिज्ञासा जगाई पर शांति का कोई उपाय न था।

दूसरे महायुद्ध के वर्षों में रूस ने जो अदम्य संघर्ष किया उसके कारण वह संसार का आकर्षण-केंद्र बन गया। उन दिनों हिटलर का दबदबा इतना था कि साधारण जनता में ऐसी धारणा थी कि तानाशाही के सामने साम्यवाद टिक नहीं सकेगा। यदि ऐसा होता तो संसार के लिए बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होता। सच्चाई तो यह है कि हिटलर की ताक़त का पहला मज़बूत मुक़ाबला रूस ने ही किया और वहीं उसकी शक्ति का बहुत बड़ा क्षय हुआ। साम्यवाद एक बड़ी अग्नि-परीक्षा में खरा उतरा। राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों क्षेत्रों में रूस के आदर्शों के प्रति सहानुभूति जगी और उसके साहित्य और काव्य के लिए कौतूहल बढ़ा।

हिंदी में प्रगतिशील खेमे से रूस का बहुत गुणगान हुआ, गो काव्य-कला के स्तर की उपेक्षा करके, बहुधा उसे गिराकर भी। १९४०-'४३ के बीच शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने 'मास्को अब भी दूर है' तथा अन्य कई ओजस्वी कविताएँ लिखीं। मुज़फ़्फ़रपुर के कवि 'रमण' ने अपना एक काव्य-संग्रह 'मास्को' (१९४३) के नाम से निकाला; 'दिनकर' ने उनकी भूमिका लिखी। काव्य-कला के प्रति अधिक सचेत कवियों ने भी रूस के साथ अपनी संवेदना को वाणी दी। उन दिनों अपने मानसिक संघर्षों में बुरी तरह फँसे हुए भी कविवर नरेन्द्र ने लिखा :

रक्त स्वेद से सींच मनुज
जो नई बेल था रहा उगा,
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी
लाल सितारा फूल लगा।
उस अंकुर पर घात लगी तो
मेरे आघातों का क्या ! (मिट्टी और फूल—१९४२)

युद्धारंभ के वर्ष में प्रकाशित दिनकर का 'हुंकार' 'लाल रस', 'लाल

[illegible], 'रक्त चन्दन', 'लोहितवसना' की ओर संकेत करता आया था। युद्ध-समाप्ति के वर्ष में उन्होंने 'दिल्ली और मास्को' शीर्षक कविता लिखी और खुलकर 'लाल सितारों वाली' 'लाल भवानी' की जय बोले !

[illegible] ने अधिक प्रदर्शन-रहित और संयत रूप लिया। मैंने रूस की प्राचीन और अर्वाचीन कविताओं का अध्ययन किया और रूसी मानस एवं भाव-जगत् को समझने का प्रयत्न किया। मेरे सौभाग्य से १९४३ में सी० एम० बावरा द्वारा संपादित 'ए बुक आफ़ रशन वर्स' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें पुश्किन से लेकर क्रांति-काल तक के कवियों की प्रतिनिधि कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। इसके कुछ महीनों बाद ही एक और पुस्तक मेरे हाथ लगी, जेरार्ड शेली द्वारा अनूदित 'माडर्न पोएम्स फ़ाम रशा' (१९४२), जिसमें क्रांति-काल के बाद के कवियों की चुनी हुई रचनाएँ संकलित की गई थीं। ये दोनों पुस्तकें तब से मेरे पास हैं और रूसी कविता का मेरा यत्किंचित् ज्ञान इन्हीं दो संकलनों पर आधारित है। श्री वीर राजेन्द्र ऋषि द्वारा पुश्किन की कविता 'जिप्सी' का मूल रूसी से सीधा हिंदी अनुवाद मैंने १९५६ में देखा और पास्तरनाक की कुछ कविताओं को उनके उपन्यास 'डाक्टर ज़िवागो' के अंत में, १९५९ में, और उनकी कुछ और कविताओं को इधर प्रकाशित उनके दो संग्रहों में। यदा-कदा रूस की अंग्रेज़ी प्रचार-पत्रिकाओं में आधुनिक रूसी कविता के अनुवाद भी पढ़ता रहा हूँ।

अनुवाद-कार्य को शब्द-साधना के लिए सुखद अभ्यास के रूप में मैंने बहुत पहले अपना लिया था। विद्यार्थी-जीवन में मैंने पाठ्य-क्रम में पढ़ी कुछ रूमानी कविताओं का अनुवाद किया था—शेली की 'लव्स फ़िलासफ़ी' की कुछ पंक्तियाँ शायद अब भी याद हैं :

> **निर्झर मिलते हैं नदियों से, नदियों से मिलता सागर,**
> **मिलती हैं आकाश-हवाएँ मधुर भावनाओं से भर;**
> **जगती में कुछ नहीं अकेला पाल सभी यह विश्व-नियम**
> **एक दूसरे से मिलते हैं—क्यों न मिलें फिर तुझसे हम ?**

फ़िट्ज़जेरल्ड के 'रुबाइयात उमर ख़ैयाम' का अनुवाद मैंने १९३३ में किया, जो १९३५ में प्रकाशित हुआ; और तब से मेरे गद्य-पद्य अनुवादों की एक शृंखला है जिससे मेरे पाठक अपरिचित नहीं हैं, और जिसकी एक नई कड़ी के रूप में इन रूसी कविताओं का अनुवाद आज आपके सामने है। अंग्रेज़ी में मेरे शोध के विषय डब्ल्यू० बी० ईट्स की भी कुछ कविताओं का अनुवाद मैंने किया है जो भविष्य में कभी आपके सामने आ सकता है। प्रादेशिक भाषाओं की कुछ कविताओं का रूपांतर भी मैं यदा-कदा करता रहा हूँ।

रूसी कविताओं के अंग्रेज़ी रूपांतर की बात पहले मेरे मन में नहीं उठी। मैं उन्हें केवल पढ़ता था और उनका रस लेता था। तभी कहीं से यह समाचार मिला कि रूस के प्रसिद्ध विद्वान अलेक्सेइ बरान्निकोव ने तुलसीदास के रामचरितमानस का अनुवाद रूसी भाषा में प्रस्तुत कर दिया है। न जाने किन संस्कारों ने मन को सहसा रूसी भाषा के प्रति बाधित कर दिया—ऋणी बना दिया। क्या यह ऋण हिंदी को किसी अंश में उतारना न चाहिए ? शायद रूसी कविताओं के अनुवाद के लिए प्रयत्नशील होने के पीछे यही प्रेरणा काम कर रही थी।

मैंने अपने पास के दो संकलनों में से बहुत-सी कविताओं का अनुवाद कर डाला, और कई १९४५-'४६ में हंस (बनारस), 'प्रतीक' (इलाहाबाद), 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'सरिता' (दिल्ली), 'मधुकर' (टीकमगढ़), 'नया साहित्य' (बंबई), 'विश्वबंधु' और 'बिजली' (पटना) आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुईं। फिर कभी निजी सृजन का वेग मुझे दूसरी ओर बहा ले गया और मैं अनुवाद की बात बिल्कुल भूल गया।

फिर भी बीच-बीच में मुझे यह ध्यान आता रहा कि कभी मुझे कुछ अच्छी रूसी कविताओं का अनुवाद संकलित करके हिंदी पाठकों के लिए उपलब्ध कराना है।

१९५२-'५४ में इंग्लैंड में रहते हुए एक बार मुझे आक्सफ़र्ड जाने का अवसर मिला। 'ए बुक आफ़ रशन वर्स' के संपादक सी०एम० बावरा उन दिनों

आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी के वाइस-चैंसेलर थे। उनसे मुझे अपने शोध के संबंध में कुछ बातें करनी थीं। मिलने पर उन्हें मैंने यह भी बताया कि उपर्युक्त पुस्तक मेरे पास है और उसके द्वारा मैंने रूसी कविता का बड़ा आनंद लिया है। लेखक चाहे जितना बड़ा और चाहे जितना प्रसिद्ध हो, उससे जब कोई अनजान-अपरिचित आकर कहता है कि वह उसकी रचना से परिचित है तो उसको बड़ी खुशी होती है! बावरा बताने लगे—युद्ध के समय रूस से इंग्लैंड की राजनीतिक मैत्री तो हो गई थी, पर साधारण जनता रूस से दूरी का भाव रखती थी अथवा उसके प्रति उदासीन थी। मैंने उन दिनों अपना संकलन इसी ध्येय से तैयार किया था कि आम लोग रूसी काव्य के वैभव से परिचित हों और इस प्रकार रूस के प्रति कोई रागात्मक संबंध बनाएँ। इंग्लैंड की जनता केवल सैन्य-शक्ति या सफलता से प्रभावित नहीं होती, वह यह भी देखती है कि सबल जाति के पीछे कोई सबल सांस्कृतिक धरातल भी है कि नहीं। अंग्रेज़ जर्मनों से लड़ते थे पर उनका आदर भी करते थे, क्योंकि उनकी जाति कवि, संगीतज्ञों और दार्शनिकों की जाति है; रूसियों के मित्र होने पर भी रूसियों के प्रति कोई आदर का भाव उनमें न था। कारण अज्ञानता थी। मेरी पुस्तक ने उसे दूर करने में कुछ योग दिया होगा। युद्ध के दौरान बहुत-सी चीज़ें रूसी से अंग्रेज़ी में अनूदित हुईं।

तभी मैंने उनकी पुस्तक से अनुवाद करने और उसे प्रकाशित कराने की अनुमति भी उनसे ले ली। जेरार्ड शेली का पता मुझे नहीं लग सका।

जिन दिनों मैं केम्ब्रिज में था उन्हीं दिनों श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा (अब पटना यूनिवर्सिटी में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष) रूसी भाषा में डिप्लोमा के लिए लंदन विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रहे थे। जब कभी लंदन जाता तो वे मेरा प्रिय भोजन खीर पकाकर मुझे खिलाते और रूसी कविता सुनाते। बदले में मैं उनको अपनी कविताएँ सुनाता। रूसी में उन्होंने बड़ी दक्षता प्राप्त की। प्रथम श्रेणी में पास हुए। वे रूसी कविताएँ बड़े उल्लास से सुनाते और उनका अर्थ बताते। मूल रूसी मैंने पहले-पहल उन्हीं के मुख से सुनी। एक दिन वे बड़े ओजस्वी स्वर में कोई रूसी कविता सुना रहे थे

और जब उन्होंने समाप्त की तो जैसे उसकी प्रतिध्वनि के रूप में भर्तृहरि की यह पंक्ति मेरे कानों में गूँज गई—'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च'। इसमें संदेह नहीं कि रूसी शक्तिशाली भाषा है और अगर उसकी समता पश्चिम की कोई भाषा कर सकती है तो केवल पुरानी यूनानी भाषा; पूर्व की, शायद, संस्कृत। रूसी और यूनानी में ध्वनि-साम्य भी बहुत है। या मुझे ऐसा लगा। केम्ब्रिज में मुझे किसी प्रोफ़ेसर के मुख से कुछ यूनानी कविता सुनने का अवसर मिल चुका था।

रूसी कविताओं को अनूदित करने की बात तो मेरे मन में थी ही, मैंने शर्मा जी से एक अनुबंध किया कि हम लोग जब भारत लौटेंगे तो किसी छुट्टी में महीने-दो महीने साथ रहेंगे और दोनों मिलकर रूस की कविताओं का हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत करेंगे। केम्ब्रिज से लौटे मुझे नौ बरस हो गए हैं और इस बीच केवल एक रात मुझे उनके घर रहने का मौक़ा मिल सका है। भविष्य के स्वप्न देखना कितना सुखद और सरल है और वर्तमान में उनको साकार करना कितना दुष्कर। इसलिए यह कार्य मुझे अपनी सीमित योग्यता के बल पर अकेले ही करना पड़ा।

इंग्लैंड से लौटकर अपने अनुवादों का एक नमूना जनता के सामने रखने का मुझे एक और अवसर मिला। आकाशवाणी केंद्र, इलाहाबाद ने एक ऐसे कार्यक्रम की योजना बनाई जिसके अनुसार किसी प्रसिद्ध विदेशी कवि की कविता मूल भाषा में सुनाई जाती थी, बाद को उसका हिंदी अनुवाद दिया जाता था, साथ में आवश्यकतानुसार टिप्पणी भी दी जाती थी। शायद उसे पंत जी ने छंद-गंध का नाम दिया था। इसी कार्यक्रम में एक बार इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के रूसी शिक्षक प्रोफेसर सुरेश सेन गुप्त ने पुश्किन की कुछ कविताओं का पाठ किया, मैंने उनका छंदोबद्ध अनुवाद प्रस्तुत किया, उनपर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी दीं। लोगों की स्मृति में एक बार फिर यह बात ताज़ी हो गई कि सात-आठ वर्ष पूर्व मेरे कुछ अनुवाद हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। कुछ लोगों ने उनकी सराहना भी की। प्रोफ़ेसर सुरेश सेन गुप्त हिंदी समझते थे; मुझे विशेष संतोष इस बात से

हुआ कि उन्होंने मेरे हिंदी अनुवाद को रूसी मूल के बहुत निकट बताया। यदि ऐसी बात थी तो इसका श्रेय अंग्रेज़ी अनुवादों को कम नहीं था। वैसे अंग्रेज़ अच्छे अनुवादक हैं, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है।

तब से पिछले वर्ष तक मेरा ध्यान इन अनुवादों की ओर नहीं गया। हां, जिन दिनों स्वर्गीय अलेक्सेइ वरान्निकोव के सुपुत्र श्री प्योत्र वरान्निकोव नई दिल्ली के रूसी राजदूतावास में सांस्कृतिक सहचारी के रूप में काम करते थे, मेरी इच्छा अवश्य हुई थी कि उन्हें अपने कुछ अनुवाद सुनाऊँ और उनकी सम्मति लूं क्योंकि वे, और उनकी पत्नी भी, हिंदी के अच्छे ज्ञाता हैं। पर उन दिनों मेरा हाथ बहुत-से निजी और बाहरी कामों में फँसा था और वे भी व्यस्त थे। मैंने उनसे अपने अनुवादों की चर्चा अवश्य की थी, वे उन्हें प्रकाशित देखना चाहते थे। उनके रूस लौट जाने के बाद भी हमारे पत्र-व्यवहार में कई बार इन अनुवादों की चर्चा उठी, पर प्रकाशन की योजना बनाना तो दूर, मुझे यह भी पता नहीं था कि मेरे कागज़-पत्रों में रूसी-अनुवादों की वह पांडलिपि कहाँ पड़ी है।

गत वर्ष वह फ़ाइल एकाएक मेरे हाथ लग गई। उसके ऊपर मोटे अक्षरों में मैंने 'रूस-पीयूष' लिख रक्खा था। शायद सोचा हो कि अगर कभी संकलन प्रकाशित होगा तो उसे यह नाम दूँगा। अपने पुस्तकालय से मैंने सी० एम० बावरा और जेराई शेली की पुस्तकें भी ढूँढ़ निकालीं। बावरा की पुस्तक में आरंभ के ख़ाली पृष्ठ पर मैंने लिख दिया था, 'यदि किसी जाति के जीवन में अमृत का अंश पाना चाहते हो तो उसके कवियों के पास जाओ।' वाक्य और शीर्षक असंबद्ध नहीं लगते।

सत्रह-अठारह वर्ष पहले के इन पुराने काग़ज़ों, अपने पुराने अक्षरों को देखकर (समय के साथ लिखावट भी कितनी बदलती जाती है!) जहाँ बहुत-सी पुरानी स्मृतियाँ जगीं वहाँ अनुवादों से कुछ निराशा भी हुई। ६०-६५ अनुवादों में से लगभग आधे का स्तर मुझे निम्न लगा। तीस कविताओं का संग्रह क्या होगा। क्या इन्हें प्रकाशित करने का विचार बिलकुल छोड़ दूँ या तीस-बत्तीस कविताओं का अनुवाद फिर से करने का संकल्प करूँ। बाद की

बात ही मन को अधिक सुखकर लगी। मैंने पुराने अनुवादों में कुछ को दुहराया, कुछ का परिष्कार किया, कुछ का नया संस्कार किया और कुछ को अभिनव रूप दिया, कुछ नये अनुवाद भी किए और इस प्रकार यह चौंसठ कविताओं का संग्रह तैयार हुआ। आप पूछ सकते हैं कि मैंने संग्रह में चौंसठ कविताएँ ही क्यों रक्खीं। शायद मेरे पिछले काव्य-संग्रह 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' के नाम का जादू अभी मेरे सिर से नहीं उतरा; पर सच बात यह है कि अकस्मात् कविताओं का चुनाव करके जब मैंने कवियों की संख्या गिनी तो वह चौबीस आई और कविताओं की चौंसठ। अनुप्रास विनोदकर हुआ।

अंत में दो शब्द अनुवाद के विषय में भी कहना चाहता हूँ। कविता में शब्द और अर्थ इतने संपृक्त होते हैं—'गिरा अर्थ जल वीचि सम'—कि उसके अर्थ को अलग कर उसे दूसरे शब्दों, दूसरी भाषा के शब्दों, का बाना पहनाना बहुत कठिन है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि कविता का अनुवाद हो ही नहीं सकता। पर असभव मनुष्य के लिए बहुत बड़ी चुनौती और बहुत बड़ा आकर्षण है :

> **जो असंभव है उसी पर आंख मेरी,**
> **चाहती होना अमर मृत राख मेरी।** (मिलन-यामिनी)

बहुत दिनों से, और बहुत-सी कविताओं का अनुवाद होता आया है। इन सबमें केवल समय, श्रम और शक्ति का अपव्यय हुआ है, इसे मानने के लिए मैं तैयार नहीं। अच्छी-बुरी बहुत-सी चीज़ों के समान अच्छे-बुरे अनुवाद भी हैं। हर अनुवाद अनुवादक की योग्यता, पैठ, सृजनशीलता और सीमाओं से प्रभावित होता है। अपनी क्षमता, समझदारी, सृजनात्मकता का निर्णय सुरुचिपूर्ण पाठकों पर छोड़कर यहाँ अपनी कुछ सीमाओं की चर्चा करना ही यथेष्ट होगा।

मेरी सबसे बड़ी सीमा तो यही है, और इसका ज़िक्र मैं पहले भी कर चुका हूँ, कि मैं रूसी नहीं जानता और ये अनुवाद अंग्रेज़ी अनुवादों पर निर्भर हैं।

अंग्रेज़ी भी मेरे लिए विदेशी भाषा है और किसी भी विदेशी भाषा की पूरी समझदारी का दावा केवल दंभी कर सकता है।

अंग्रेजी अनुवादकों ने यह भी दावा किया है कि उनके अनुवादों में छंद भी वही हैं जो मौलिक रूसी में। एक योरोपीय भाषा से दूसरी योरोपीय भाषा में छंद को एक ही रखने की संभावना हो सकती है, पर हिंदी के लिए यह अकल्पनीय है। छंद भी कविता के अविभाज्य अंग हैं। पंत जी ने अपने 'पल्लव' की भूमिका में हर छंद को एक विशिष्ट भावना का वाहक बताया है। मैंने भी प्रयत्न किया है कि कविता की भावना के अनुरूप छंदों का उपयोग किया जाए। मैं कितना सफल या असफल हुआ हूँ, यह बात आप कविताओं के भावों में डूबकर बता सकेंगे।

छंद और तुक जहाँ भाषा के अलंकार हैं वहीं भाषा की स्वच्छंद गति में बाधाएँ भी हैं। जहाँ भाषा-भाव एकात्म होकर चलते हों, वहाँ शायद यह बात कम अनुभव की जाय, पर अनुवादों में छंद और तुक सबसे बड़ी बाधाएँ उपस्थित करते हैं। मैंने यह देखा कि मेरे पुराने अनुवाद प्रायः वहीं निष्प्रभ और शिथिल थे जहाँ उन्हें आग्रहपूर्वक छंद और तुक में बाँधने का प्रयत्न किया गया था। नए अनुवादों में उस बंधन को ढीला कर और वांछित लयों का आधार ले मैं, अपनी समझ में, उन्हें मूल के भावों-विचारों के अधिक निकट ही नहीं लाया हूँ, अधिक सजीव भी बना सका हूँ। हमारा आधुनिक मानस छंदों के बंधनों और तुकों की कृत्रिमता से ऊबा हुआ है, इसके सबूत आज हमारी कविता में स्पष्ट हैं।

सफल और परिपूर्ण कविता में भाव और भाषा एक-दूसरे के अनुरूप होते हैं, या उनको होना चाहिए, ठीक है; पर कविता का इतिहास उनके विपर्यय से भरा पड़ा है। हमें आश्चर्य हो सकता है, पर तथ्य यही है कि कविता में, बावजूद इसके कि वह कला शब्दों की है, प्रधानता भावों को दी जाती है। शब्दों को साधन समझा जाता है, भावों को साध्य—'भाव अनूठो चाहिए भाषा कैसिउ होय।' विश्वास शायद इसके पीछे यह है कि भाव का अनूठापन भाषा को अपने पीछे खींच ही ले जाता है। जब दोनों को साथ नहीं, आगे-पीछे चलना है, तो उचित यही है—इसमें भारतीय दृष्टि भी है—कि भाषा (प्रकृति) भाव (पुरुष) की अनुगामिनी हो। सफल अनुवादक भी

वही होता है जो अपनी दृष्टि भावों पर रखता है। शाब्दिक अनुवाद न शुद्ध होता है न सुंदर। भाव जब एक भाषा-माध्यम को छोड़कर दूसरे भाषा-माध्यम से मूर्त होना चाहेगा तो उसे अपने अनुरूप उद्बोधक और अभिव्यंजक शब्द-राशि सँजोने की स्वतंत्रता देनी होगी। यहीं पर अनुवाद मौलिक सृजन हो जाता है या मौलिक सृजन की कोटि में आ जाता है। ऐसा देखा गया है कि सफल अनुवादक वे ही हुए हैं जिनका मौलिक सृजन पर भी कुछ अधिकार है। दूसरे शब्दों में, अनुवाद भी मौलिक सृजन की ही एक प्रक्रिया है। नहीं तो आज संसार के बड़े-बड़े सर्जक अनुवाद की ओर झुके न दिखाई देते।

मैंने इन अनुवादों में कथन से कथ्य पर, शब्दों से शब्दों में निहित या शब्दों के पीछे छिपे भावों पर, अधिक ध्यान दिया है और ऐसा करने में शायद मैंने ज्यादा बड़ा दायित्व अपने ऊपर लिया है। कहने के लिए क्षमा चाहूँगा कि यदि मुझमें मौलिक सर्जक का भी यत्किंचित् विश्वास न होता तो मैं यह साहस कदापि न कर सकता।

मेरी पुरानी पांडुलिपि में एक बात बड़ी मनोरंजक और ध्यान देने योग्य है। उसमें कहीं भी इन अनुवादों को अनुवाद नहीं कहा गया है। हर अनुवाद के नीचे लिखा है फलाँ 'कविता के आधार पर'। मैं चाहता हूँ कि इन अनुवादों को पढ़ते समय यह छोटी-सी पर महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखी जाए।

हज़ारों पाठकों में शायद एक ऐसा होगा जो मूल से इन अनुवादों की तुलना करके देखेगा। अधिकतर लोग इन्हें इसी विश्वास से पढ़ेंगे कि इन्हें मैंने प्रस्तुत किया है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आपका यह विश्वास मेरे लिए बड़ा भारी संयम है।

इन रूसी कविताओं के हिंदीकरण में मुझे जो आनंद मिला है उसमें आप मेरे सहभागी हों।[1]

१३, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली-११ —**बच्चन**

२७-९-६३

---

१. रूसी नामों के शुद्ध उच्चारण के लिए मैं गोपेश जी का आभारी हूँ।

क्रम

रूसी कविता—एक विहगावलोकन

किसी भी देश या जाति के काव्य-साहित्य का स्वरूप उसके भूगोल, इतिहास, संघर्ष, जीवन-पद्धति, समाज-नीति, राष्ट्रीय आदर्श, राष्ट्र-धर्म, दर्शन और संस्कृति पर निर्भर करता है।

रूस भी अपवाद नहीं है।

भूमि-विस्तार की दृष्टि से रूस संसार का सबसे बड़ा देश है। पृथ्वी पर उपलब्ध थल भाग का लगभग छठा हिस्सा अकेले रूस के अंतर्गत है। नारवे और स्वीडन को छोड़कर यूरेशिया महाद्वीप के सारे उत्तरी भाग में रूस का फैलाव है और दक्षिण में वहाँ तक चला गया है जहाँ मध्य एशिया की शृंग-मेखला खिंची है। रूस में एक कहावत प्रचलित है कि रूस देश नहीं, दुनिया है।

उत्तरी ध्रुव से जब ठंडी हवाएँ चलती हैं तब सारे रूस पर होती हुई वहीं जाकर रुकती हैं, जहाँ वे मध्य एशिया की पर्वतमाला से टकराती हैं। रूस ठंडा देश है—बर्फ़ से ढके विस्तृत भू-भागों का, लंबी घास के चरागाहों का, सघन जंगलों का, लंबे-चौड़े रेगिस्तानों का, अनुर्वर-बंजर पठारों का, साथ ही खेती के योग्य सपाट उपजाऊ मैदानों का भी।

फिर भी जिस प्रदेश में रूस की विशिष्ट सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ वह अपेक्षया छोटा है; उसके पूर्व में यूराल पर्वत है, दक्षिण में कार-पेथियन और काकेशस गिरिमाला तथा कैस्पियन और कालासागर। बीच से होकर योरोप की सबसे बड़ी नदी वोल्गा मंद-स्वच्छंद बहती है जिसका

सांस्कृतिक संबंध राहुल सांकृत्यायन ने गंगा से करा दिया है।

ईसवी-संवत् के सदियों पूर्व से इस लंबे-चौड़े भू-भाग के दक्षिणी प्रांतों में सीथियाई, समरेशियाई, गाथ और हूण आदि युद्ध-प्रिय, बर्बर, यायावर जातियाँ अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष करती आ रही थीं।

ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में इस रंगमंच पर पश्चिम और दक्षिण से उस साहसी स्लाव जाति का प्रवेश आरंभ हुआ जिसे आज के तीन-चौथाई रूसियों का पूर्वज कहा जा सकता है। इन्होंने पहले तो उपर्युक्त अर्धसभ्य, घुमंतू जातियों को परास्त किया और बाद को पूर्व के उन तुर्की-तातारों से जा भिड़े जिन्हें पराजित करने के लिए उन्हें स्कैंडिनेविया की रुस नामक जाति की सहायता लेनी पड़ी, और जिससे ही संभवत: इस देश का नाम रूस पड़ा। पूश्किन के मन में इन्हीं प्रारम्भिक संघर्षों की स्मृतियाँ रही होंगी। जब उन्होंने लिखा,

'स्लाव और फ़िन, कलमुक, तुंगुस की मैं अभिमानी संतान
जिनके गौरव की गाथा से गुंजित है रूसी मैदान!'

इन्हीं रुस और स्लाव जातियों ने मिलकर ईसा की दसवीं शताब्दी में प्रथम रूसी राज्यवंश की नींव डाली, कीएव को राजधानी बनाया, यूनान से व्यापारिक संबंध स्थापित किए, और इसी वंश के राजा व्लादिमीर प्रथम ने सन् ९८९ में सर्वप्रथम ईसाई धर्म स्वीकार किया—यूनानी कट्टर-पंथी चर्च का ईसाई धर्म।

ऐसा न समझा जाना चाहिए कि इस राजवंश की प्रभुता समस्त रूस ने मान ली। स्लाव उपजातियों के कई और राजवंश थे जो कीएव के विरुद्ध तथा आपस में भी लड़ा करते थे। इस पारस्परिक वैमनस्य का लाभ उठाकर पूर्व के तातारों और मंगोलों ने तेरहवीं सदी में कीएव को बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, और वोल्गा के तट पर सराय नामक स्थान में अपनी राजधानी बनाई। डेढ़ सौ वर्षों के बाद जब उन्हें अपदस्थ करने के लिए फिर से स्लाव-राज्य-परिवारों का संघ बना तो उसका नेतृत्व मास्को के राज्यवंश

ने किया और उसने न केवल मंगोलों को मार भगाया बल्कि उत्तर, पश्चिम, दक्षिण—सब ओर राज्य का विस्तार किया। इसी वंश के इवान चतुर्थ अथवा क्रूरकर्मा इवान ने १५४७ में अपने को समस्त रूस का ज़ार घोषित किया, और अपने सारे प्रतिद्वंद्वी सामंतों को शक्ति-क्षीण और महिमाहीन कर दिया।

इवान के उत्तराधिकारी के राज्य-काल में सामंतों ने फिर से शक्ति संचय करना आरंभ किया और दास-प्रथा सुदृढ़ हुई, जिसके अनुसार भू-स्वामी भूमिवासियों का भी स्वामी होता था, उनसे गुलामों की तरह काम ले सकता था और उन्हें यह अधिकार नहीं था कि वे एक सामंती क्षेत्र से दूसरे में जा सकें।

इवान का पुत्र पुत्रहीन मरा और नया ज़ार चुने जाने के पूर्व सामंतों में भीषण संघर्ष हुआ, आंतरिक क्रांतियाँ हुईं, बाहरी आक्रमण हुए और अंततोगत्वा रमानोव परिवार के मिखाइल रमानोव को ज़ार चुना गया जिसके वंश ने अगले तीन सौ वर्षों तक, यानी ज़ारशाही के अंत होने तक, रूस में राज्य किया।

मध्ययुग में यथा राजा तथा प्रजा का नियम था। रमानोव ने रूस को एक नई दृष्टि दी जिसने रूस के सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए नई भूमि तैयार की। उसकी चर्चा हम बाद को करेंगे।

जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, रूस अब तक अपने को व्यवस्थित करने के संघर्ष में ही रत था। ऐसी स्थितियाँ किसी विशिष्ट साहित्यिक आंदोलन, उपलब्धि अथवा रचना के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित नहीं करतीं। ईसाई धर्म के प्रवेश के पूर्व रूस का साहित्य लोक-कथाओं तक सीमित रहा होगा, जिनकी क्षीण प्रतिध्वनियाँ शायद अब तक मिल सकती हैं। ईसाइयत के साथ धर्म-संबंधी लेखन-पठन आरंभ हुआ और राज्य स्थापना के साथ इतिहास-लेखन का कार्य। सोलहवीं सदी के अंत तक विशुद्ध साहित्य की कोटि में आनेवाली केवल एक रचना का नाम लिया जाता है, 'इगोर की चढ़ाई'—संभवत: यह बारहवीं सदी के अंतिम भाग की रचना

है, जो स्लाव-तातार-मुठभेड़ पर आधारित है। किंतु, इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन के संघर्ष और यूनानी चर्च और भाषा के संपर्क से—यूनानी से बहुत-से धार्मिक साहित्य का अनुवाद रूसी में हुआ—रूसी भाषा ने बड़ा ही ओज और बल संचय किया।

रमानोव की जिस नई दृष्टि की चर्चा ऊपर की गई है वह थी रूस को पश्चिमी योरोप की ओर अभिमुख करना। उसने इंग्लैंड और हालैंड से व्यापार बढ़ाया, विदेशी इंजीनियर और डाक्टर बुलाए, और योरोपीय प्रभाव को स्थायित्व देने के लिए उसने एक सहस्र जर्मन परिवारों को लाकर मास्को में बसाया।

पश्चिमी योरोप की ओर देखने और उससे प्रेरणा लेने की यह प्रवृत्ति सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में चलती रही। रमानोव के उत्तराधिकारियों में प्योत्र-महान और महारानी कैथरिन के नाम प्रसिद्ध हैं। प्योत्र ने प्राचीन रूसी रस्म-रिवाजों को तिलांजलि देकर जीवन के समस्त क्षेत्रों में योरोपीय रहन-सहन का प्रचार किया-कराया। कहा जाता है कि अपने सामंतों को एकत्र करके उसने अपने हाथ से उनकी दाढ़ियाँ काटीं। बाद को दाढ़ी रखनेवालों पर टैक्स लगाया। यह केवल प्रतीकात्मक था।

महारानी कैथरीन ने रूस में फ्रांसीसी संस्कृति और साहित्य का प्रवेश कराया और सामंत परिवारों से संबद्ध नवयुवकों की शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया, पर कृषक-प्रजा का सांस्कृतिक स्तर प्रायः जहाँ का तहाँ बना रहा।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियाँ भी शांति की शताब्दियाँ नहीं थीं। इनमें रूस की राजनीति थी पश्चिम की ओर बढ़ना और पूर्व की शक्तियों को बढ़ने से रोकना और अक्सर उसकी टक्कर फ़िनलैंड, एस्तोनिया, लातविया, लिथुआनिया, स्वीडेन, पोलैंड, जर्मनी, (अठारहवीं सदी के मध्य, एक रूस-जर्मन युद्ध में लगभग ३०००० रूसी मारे गए) उक्रइन के कज़्ज़ाकों और तुर्की साम्राज्य से होती रही।

इन शताब्दियों में जनता में लोकगीत, लोककथा, तथा धार्मिक वार्ताओं

की सृष्टि हुई पर इनकी गणना उन दिनों साहित्य में नहीं होती थी—साहित्य कोटि में आनेवाले क्रिया-कलाप का केंद्र राजदरबार था और वहाँ जो कुछ लिखा गया वह दरबारी था, कृत्रिम था, और प्रायः फ्रांसीसी साहित्य का अनुकरण था—और एक ऐसे समय के फ्रांसीसी साहित्य का जो स्वयं यूनान और रोम के पुराने साहित्य के नियमों पर चलने के कारण नकली, निर्जीव और रूढ़िबद्ध था।

अठारहवीं सदी के अंत में पश्चिम योरोप और रूस के मानसिक स्तरों में भारी अंतर था। पश्चिमी योरोप, मध्ययुग से निकल, नवजागरण (रेने-सांस) और नवसुधार (रिफ़ार्मेशन) के दो सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलनों के बाढ़-बवंडर को झेल, कुछ काल प्राचीन मनीषियों के संरक्षण-अनुशासन में बिता, रूमानियत के रहस्यमय द्वार को खटखटाने लगा था, रूस अब भी मध्य युग में पड़ा था। उसने नवजागरण या नवसुधार का कोई समानांतर आंदोलन नहीं जाना था। उसका सामंती वर्ग अवश्य कुछ शिक्षित-दीक्षित हो उन्हीं नियम-विजड़ित साहित्य-रूपों की अनुकृति उपस्थित कर रहा था जिनसे अब पश्चिमी योरोप ऊब चला था। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि इस प्रवृत्ति ने रूस को उच्चकोटि का साहित्य भले ही न प्रदान किया हो, उसने रूसी भाषा को ऐसा परिमार्जित, परिष्कृत, गरिमामय और गतिशील बना दिया कि वह जाति-जीवन से संबद्ध सभी प्रकार के भाव-विचारों की सहज वाहिका हो सके। यही भाषा थी जिसे उन्नीसवीं सदी में पूश्किन ने अपनी असाधारण प्रतिभा और रूमानी युग के संवेगों के बल पर प्रभ, प्रांजल और प्रभावपूर्ण बनाया।

रूसी भाषा और साहित्य को योरोप की समुन्नत और समृद्ध भाषाओं के साहित्य का समकक्ष बनाने का श्रेय निश्चय ही पूश्किन को है। रूस के पास नवजागरण की देन शेक्सपियर, नवसुधार की देन मिल्टन, पुरा साहित्यानुशासन की देन ड्राइडेन की परंपरा न होने पर भी उसका पूश्किन रूमानी युग के प्रतिनिधि कवि बाइरन का सहज समकक्षी है। साहित्य की यात्रा में रूस ने निश्चय ही विलंब से प्रस्थान किया, फिर भी रूमानीयुग

में वह पश्चिमी योरोप के साथ कंधा मिलाकर चला। और, तव से आज तक रूसी काव्य योरोपीय काव्य के साथ क़दम-व-क़दम चल रहा है—सदी के प्रारम्भ में उसमें शैली-कीट्स का सा रूमानी उच्छ्वास है, मध्य और अंत में टेनिसन की सी आभिजात्य अभिव्यक्ति और उससे विरति, बीसवीं सदी के प्रारंभ में विकसित व्यक्तिवादिता : इसके पश्चात् ऐतिहासिक कारणों से योरोपीय काव्य विघटन और कुंठा का काव्य हो जाता है और रूसी, क्रांति और क़तारबंदी का; और आज दोनों प्रवृत्तियों से मुक्ति पाने के प्रयास किसी न किसी रूप में हो रहे हैं।

मोटे तौर पर वाहरी रूप-रेखा की समानता के बावजूद यह न मान लिया जाना चाहिए कि इन दो शताब्दियों में रूसी काव्य की अपनी कोई विशिष्टता नहीं रही। इसीकी ओर संक्षेप में संकेत करना निम्न पक्तियों का ध्येय है।

१८१२ में जब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया उस समय उसकी चाहे जितनी धन-जन हानि हुई हो पर उसके बाद से मध्य शताब्दी में क्रीमियाई युद्ध तक रूस की शक्ति और प्रभुता निरंतर बढ़ती रही— क्रीमिया के युद्ध में अवश्य उसकी हार हुई। नेपोलियन को पराजित करने के लिए इंग्लैंड, प्रशा, आस्ट्रिया और रूस का जो संघ बना उसमें रूस ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, दक्षिण और पूर्व में उसने अपना राज्य-विस्तार किया और देश के अंदर, उन्नीसवीं सदी के व्यावहारिक विज्ञान से समन्विन हो, सर्वतोमुखी औद्योगिक विकास की नींव डाली। इसी काल में शासन-व्यवस्था योरोपीय ढंग से संगठित की गई, कृपक-प्रजा के बंधन कुछ ढीले किए गए; और जनता में जो अधिकार-चेतना जागी उसका सबूत यह है कि १८२५ में एक विद्रोह भी हुआ जो 'दिसंबर विद्रोह' के नाम से प्रसिद्ध है।

साहित्य में यह पूश्किन, त्यूतशेव, लेरमेन्तोव, कोल्तसोव और खोम्याकोव जैसे कवि और गोगोल जैसे कथाकार-नाट्यकार का युग है जिसे रूसी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है, और पूश्किन को उसका निश्चित

प्रतीक और प्रतिनिधि।

पूश्किन का जन्म सामंत-परिवार में हुआ और उनकी शिक्षा-दीक्षा, उस समय की प्रचलित प्रथा के अनुसार, फ्रांसीसी अध्यापकों की देख-रेख में हुई। उनपर अठारहवीं सदी में व्याप्त पुरा साहित्यानुशासन का गहरा प्रभाव पड़ा, पर युग की रूमानी भावनाओं का भी उन्होंने खुलकर स्वागत किया। वे कवि को पैग़म्बर का दर्जा देते हैं, जो दिव्य-दृष्टि से जग-जीवन के सत्य को देखता है, और दैवी-प्रेरणा से उन्हें व्यक्त करने के लिए मुंह खोलता है। प्रेम की दुनिया उनकी अपनी दुनिया है, और उसका कोना-कोना जैसे उनका देखा-जाना है। वे स्वप्न और कल्पना के संसार के सहज निवासी हैं, और यथार्थ की कटुता से उन्हें क्षोभ होता है। दीन-दुखियों के साथ उनकी सहानुभूति है; सरकारी पद पर रहते हुए भी वे सरकार द्वारा निर्वासित राजबंदियों को आशा का संदेश देते हैं। प्रकृति के वे प्रेमी हैं—उसके उग्र और कोमल दोनों रूपों को उन्होंने अपना स्नेह दिया है—बुल-बुल के बोल को भी, बिजली की कड़क को भी। उन्होंने आंतरिक उल्लास के साथ आंतरिक अवसाद भी जाना है। वे वाह्य-वर्णन के उतने ही बड़े कवि हैं जितने आत्मचिंतन के। उत्तम, उदात्त, सुंदर, सुरुचिपूर्ण कभी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता। सबके ऊपर वे अपने राष्ट्र के गायक हैं। वे व्यापक अर्थ में रूस के राष्ट्रकवि हैं—जैसे इग्लैंड के शेक्शपियर, इटली के दांते, जर्मनी के गेटे, भारतवर्ष के कालिदास। जो भी रूसी जीवन, विचार, भावना, आकांक्षा, आदर्श, एक शब्द में आत्मा के निकट है वह सब पूश्किन में मौजूद है।

बड़ा विचित्र है कि जीवन, प्रवृत्ति और मान्यताओं में स्वच्छंदतावादी होते हुए भी पूश्किन अपनी अभिव्यक्ति में पुरा साहित्यानुशासन का पालन करते हैं। इसने उनकी भावनाओं को उद्दाम, और अभिव्यक्ति को कृत्रिम होने से बचा लिया है। उनके काव्य में गहराई है, सच्चाई है, पर भावावेश और अतिशयोक्ति नहीं; उनमें अनुभूति है, कल्पना है, पर उन्माद नहीं, (उनकी एक कविता है—'मुझसे मेरी बुद्धि न छीनो'); अनंत की ओर

उड़ान नहीं। वे अपरिचित और असाधारण को भी परिचित और साधारण के धरातल पर उतार लाते हैं। अज्ञात और रहस्यपूर्ण से वे दूर रहते हैं।

लेरमेन्तोव रूमानियत के आवेग, प्रखरता और वाग्विदग्धता के कवि हैं। जग-जीवन के सहज-साधारण से उन्हें चिढ़ है। गंध-भरे मंद पवन में हिलता आँचल उन्हें नहीं आकर्षित करता; उनकी निगाहें उस जहाज़ की ओर जाती हैं जो तूफ़ानों से लड़ता, लहरों से झगड़ता आगे बढ़ता है :

'पोत होड़ ले रहा निरंतर तूफ़ानों से,
जैसे तूफ़ानों में ही सब शांति भरी है।'

उनका जीवन भी तूफ़ानी था। पूश्किन के समान वे भी अपने यौवन में ही द्वंद्वयुद्ध में मारे गए। फिर भी उनकी अंतिम रचनाओं में उनका भावावेग सुस्थिर हुआ है; उन्होंने इस धरती के दुःख-शोक-संकुल क्रंदन के पीछे किसी स्वर्गिक संगीत की मंद प्रतिध्वनियाँ सुनी हैं; और कभी-कभी तो उनकी दृष्टि स्थूलता के सारे आवरणों को भेदती हुई शून्य में खो गई है। 'जीवन का प्याला' में वे कहते हैं :

'...चमक रहा था
जो कंचन का प्याला वह अस्तित्व हीन था,
भरा हुआ था वह जिससे, केवल सपना था,
और स्वप्न वह नहीं हमारी आखों का था।'

काव्य की हर प्रवृत्ति अपना संतुलन खोजती है। प्रखरता की अति होती है तो कोमलता अपना घूंघट हटाती है। शेली के साथ कीट्स आते हैं, निराला के साथ पंत। लेरमेन्तोव जितने प्रखर हैं, त्यूतशेव उतने ही कोमल। लेरमेन्तोव सैनिक हैं, त्यूतशेव दार्शनिक। उनकी सहज दृष्टि शांत और गंभीर की ओर है। उन्होंने 'कवि' शीर्षक कविता में उस कवि के ऊपर व्यंग्य किया है जिसके 'भाव-विचारों में तूफ़ान मचलते'। वे मुख्यतः गीत-कार हैं, संयत भावों के संयमित स्वरों के। 'पुरानी चिट्ठियाँ' का वातावरण कितना शांत है, पर चिट्ठियाँ फाड़नेवाले के मन में कितनी गंभीरता-उद्विग्नता है।

'शांति' शीर्षक कविता में वे कहते हैं :

'अपने अंदर धँसो,
रहो परियों की या जादुई कल्पना की दुनिया में,
जहाँ जगत का हल्ला-गुल्ला नहीं पहुँचता,
और जहाँ के रहस राग के लिए
धरा के कान बधिर हैं।
उनको अनको,
वारो मन को,
मुख से कोई शब्द न निकले।'

और जो 'रहस राग' उन्होंने पकड़ा है वह परियों के लोक का है या नहीं, पर रूसी कविता ने संभवत: उनसे अधिक मधुर गायक नहीं जाना। रूसी कविता में पूश्किन के बाद त्यूतशेव का ही नाम लिया जाता है।

देखा गया है कि रूमानी युगों में लोगों का ध्यान लोक-जीवन, लोक-गीतों की ओर भी जाता है। इंग्लैंड में हम परसी और मैकफ़र्सन का नाम सुनते हैं। हिंदी में छायावादी युग में रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीतों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। रूस में कोल्तसोव उसी कोटि के कवि हैं। वे स्वयं कृषक थे। उन्होंने लोक-लय में लोक-जीवन की बहुत-सी सरल-सुखद झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। इस ग्रामीण प्रेमी और उसकी प्रेयसी की उलझन तो देखें :

'उसके दिल की हर धड़कन को
कह देती उसकी वाणी,
पर सुनकर भी नहीं समझती
उसकी भोली दिलजानी।
'किसके हित', वह बाला पूछा
करती है, 'तुम गाते हो ?
वह है कौन कि जिसको अपना
दुखमय गीत सुनाते हो ?'

कोल्तसोव विशुद्ध रूसी माटी के गीत गाते हैं। उन्होंने विदेशों से न कुछ सीखा है, न लिया है, फिर भी उनके गीतों में संभ्रांत नागरिकों को भी आकर्पित करने की शक्ति है।

ऐसी उपलब्धियों ने रूसी वाङ्मय के सामने एक समस्या ही खड़ी कर दी—कविगण अपनी प्रेरणाएँ रूस की धरती से लें अथवा पश्चिमी योरोप से ? संभ्रांत सामंती नागरिकों ने—अब तक कविगण प्रायः इसी वर्ग से आए थे—पश्चिमी योरोप से बहुत कुछ लिया था; उसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। लेखकों के दो दल हो गए। एक का नेतृत्व खोम्याकोव ने किया—रूसवादियों का—वास्तव में वे अपने को स्लावपंथी कहते थे; पाश्चात्यों का, बेलिन्सकी ने। स्लावपंथियों का दृष्टिकोण संकुचित था; वे रूढ़िवादी थे। पाश्चात्य, योरोपीय विचारधारा के साथ होने के कारण प्रगतिशील थे; प्रायः सब बुद्धिजीवी थे। परंतु उनकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने देश-परिवेश से कटे हुए थे। आलोचनाएँ उनकी ऊँचे दर्जे की होती थीं, पर सृजन उनका घटिया था। ऐसे बौद्धिक संघर्ष के युग गद्य के लिए अधिक अनुकूल होते हैं। कविता का स्वर्णयुग बीत चुका था। खोम्याकोव ने रूस के कट्टरपंथी चर्च का आधार लेकर कुछ अच्छी रचनाएँ कीं। उनकी 'मजदूर और मसीह' कविता उदाहरण है। यहाँ मज़दूर का कर्म प्रभु-समर्पित होकर भी परिणामतः समर्पित वह सामंत-स्वामी को ही होता है; और इस दृष्टि से धार्मिक और देशीय होते हुए भी खोम्याकोव रूढ़िवादी हैं।

बौद्धिक-मंथन से जो गद्य-युग आरंभ हुआ था, उसने तुर्गनेव, दस्तायेव्स्की और लियो तोल्सतोय जैसे उपन्यासकार दिए।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में कविता की आभिजात्य अभिव्यक्ति अलेक्सेइ तोल्स्तोय, नेक्रासोव, पोलोन्स्की जैसे कवियों में होती रही। इन सब कवियों का जन्म रूसी कविता के स्वर्णयुग में हुआ था और उनपर उसी युग के सर्वश्रेष्ठ काव्य के संस्कार भी पड़े थे। दीर्घजीवी होने के कारण रूमानी युग की प्रवृत्तियों को पोपित और उपलब्धियों को परिमार्जित-परिष्कृत

करने का इन्हें पर्याप्त समय मिला। ये सब संभ्रांत परिवारों के कवि थे, परंतु इनका दृष्टिकोण रूमानी कवियों के अनुरूप उदार था—इनकी संवेदना कृषक, मज़दूरों, बंदियों और शोषितों के साथ थी। परन्तु उनका पक्ष लेने का आग्रह उनमें न था। कविता उन्होंने सांस्कृतिक क्रिया-कलाप के रूप में अपनाई थी, फिर भी उनकी भावनाओं में सच्चाई है, उनकी कल्पना में संयम है, उनकी कला में निखार है। साथ ही उनमें काव्य का वह गुण भी है जो उसे देश-काल की सीमा से निकालकर सार्वजनीन और सार्वयुगीन बना देता है। पोलेन्स्की की 'अंधा पादरी' और 'हंस की मौत', नेक्रासोव की 'भूखा' और 'वे-कटा खेत' ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हें भावप्रवण काव्यप्रेमी हर देश, हर काल में पसन्द करेंगे, क्योंकि वे जीवन के कुछ ऐसे मर्मों को छूती हैं जो मानवता के साथ तदाकार हैं।

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध शासन की ओर से सतर्क सुधारों और बौद्धिक वर्ग के वर्धमान असंतोष का समय है। इस असंतोष का ही परिणाम था कि १८८१ में अलेक्सांद्र द्वितीय की हत्या कर दी गई। हत्या से राजतंत्र तो टूटा नहीं, अलेक्सांद्र तृतीय ने बौद्धिक वर्ग का निर्ममता से दमन किया और बहुतों को साइबेरिया में देश-निकाला दे दिया, जहाँ पूश्किन के समय से ही राजद्रोही भेजे जाते थे। अलेक्सेइ तोल्सतोय की 'बंदी' शीर्षक कविता का संकेत भी ऐसे ही बंदियों की ओर है। इस दमन ने अवसाद, निराशा और घुटन के ऐसे युग को जन्म दिया जो १९०५ तक चला जबकि जापान द्वारा रूस की पराजय पर रूसी जनता ने पुनः विद्रोह किया। इस युग के प्रतीकात्मक और प्रतिनिधि लेखक चेख़ोव हैं। एक तो वे स्वयं शोषित वर्ग के थे, दूसरे, वे क्षय रोग से पीड़ित थे; तीसरे, उन्हें ऐसा दमघोट वातावरण मिला। चेख़ोव ने अपनी प्रतिभा से जीवन का बहुत कुछ दबा, छिपा, कुचला देखा। उनका साहित्य उल्लास का साहित्य नहीं, वह उत्साहवर्धक भी नहीं, पर दुख-दर्द सहने की, सहकर भी मानवता का स्वाभिमान बनाए रखने की शक्ति अवश्य देता है।

इस युग में कवियों के दो दल हो जाते हैं। एक के प्रतिनिधि हम सोलो-

वयेव सोलोगुब को मान सकते हैं; दूसरे के बालमोन्त और ब्रयुसोव को। प्रथम दल के लोग जीवन की सुकुमार भावनाओं पर गीत लिखते हैं, विशेपकर प्रेमगीत—सोलोवयेव की 'प्रेयसी' शीर्षक कविता उदाहरण है। शब्द-संगीत पर इनका विशेष आग्रह है। दूसरे दल के लोग दमघोट वातावरण की घबराहट तो व्यक्त करते हैं, पर उभरकर कुछ कहने का साहस उनमें नहीं है। ब्रयुसोव की 'संगत राश' और बालमोंत की 'नीरवता' शीर्षक कविताओं से यह बिलकुल स्पष्ट है। संगत राश जो बंदीघर बना रहा है उसमें उसीका कोई भाई-बंधु बंद होगा, यह जानते हुए भी वह उसे बनाने से हाथ नहीं हटाता। बालमोंत युग के वातावरण को चित्रित करते हैं :

'छा रही है रूस के मुख पर थकावट की उदासी,
छिपे, गहरे घाव की पीड़ा, नहीं जो व्यक्त होती,
एक ऐसी वेदना जो मूक सीमाहीन है, आशारहित है;
शीत, नीलाकाश ऊपर, और नीचे दूरियों की धुंध फैली।'

१९०५ से १९१७ तक का समय क्रांति की तैयारी का समय है। सुधारवादियों के विरुद्ध बुद्धिवादियों ने विद्रोह किया था, पर बुद्धिवादियों में प्रदर्शनप्रियता अधिक थी, कार्यशीलता कम। दमन से उभर उठने की जगह वे दब गए थे। रूस की प्रगतिशील शक्तियों की आशा अब इन दोनों से भिन्न एक ऐसे वर्ग पर लग रही थी जो औद्योगिक कारखानों और संस्थानों में संगठित हो रहा था। पर इस वर्ग में साहित्यिक मुखरता का अभाव था; उसमें इनकी परंपरा भी नहीं थी।

आश्चर्य है कि १९१७ की क्रांति का पूर्वाभास रूस के कवियों में नहीं मिलता। साहित्यिक सृजन जिस वर्ग के हाथ में था वह अपनी दबी हुई मनःस्थिति में योरोप के 'कला के लिए कला' के सिद्धांत की दुहाई देकर अपनी सत्ता बनाए रखने का उपक्रम कर रहा था। फ्रांस के प्रतीकवाद (सिम्बोलिज़्म) के आधार पर रूस में भी प्रतीकवादियों का एक गुट बन गया। इसका लक्ष्य था काव्य में संक्षिप्तता, सांकेतिकता और ध्वन्यात्मकता लाना। एक गुट अपने को परिपूर्णतावादी कहता था। इसके नेता थे

गूमिलेव और अन्ना आख़मतोवा; इसके प्रमुख कवि ब्लोक थे। ये सोलोव-येव की परंपरा में थे। इनका ध्येय था कविता को निर्दोष, त्रुटिविहीन, निखरी, सजी, सँवरी बनाकर प्रस्तुत करना। कुछ अपने को भविष्यवादी कहते थे; एक समय पास्तरनाक और मयकोव्स्की के नाम इनके साथ संबद्ध थे। नाम और ध्येय की सूक्ष्म विभिन्नताओं के बावजूद क्रांतिपूर्व के इन सब कवियों का आग्रह कथ्य से अधिक कथन पर था। ये शब्द-चातुरी, शैली की परिपक्वता और भाव-भाषा के रागमय सामंजस्य की ओर अधिक ध्यान देते थे। किसी-किसी में रूस की चिंतनीय दशा की चेतना भी थी जैसा कि अन्द्रेइ बिएली की 'रूसी गाँव' अथवा ब्लोक की 'गिद्ध' से स्पष्ट है। पर, निकट भविष्य में आनेवाली क्रांति के स्वरूप के प्रत्यक्षी-करण की दिव्य-दृष्टि किसी कवि में नहीं थी। क्रांति की तैयारी में अगर कोई सचेत होकर योग दे रहा था तो वह था गद्यकार-कथाकार गोर्की।

१९१७ की 'अक्टूबर-क्रांति' ने सफल होकर जो स्वरूप धारण किया, समाज का ढाँचा जिस तरह से उल्टा-पल्टा, राष्ट्र का जो लक्ष्य सामने रखा, वह इतना अप्रत्याशित था कि उसने बौद्धिक वर्ग के कवियों को आश्चर्यचकित कर दिया। सहसा परिवर्तित आदर्शों का गायक बनना, बदली हुई राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में अपना स्थान समझना और परंपरा से मिले अथवा बचपन और यौवन में पड़े संस्कारों को मिटा-भुलाकर नई मानसिक चेतना से सजग होना कवियों के लिए बड़ा कठिन हो गया। मैन्देल्सतम ने 'सिपाही की मन:स्थिति' बना ली; शायद इससे वे निश्चिंत हुए। येसेनिन ने क्रांति को कृषकों की विमुक्ति का स्वप्न समझा—वे कृषकवर्ग से आए भी थे। क्रांति मज़दूरों की क्रांति थी; और प्रारंभ में मज़दूरों और कृषकों में संघर्ष भी हुए। उन्होंने निराश होकर आत्महत्या कर ली। मयाकोव्स्की ने अपने को विजयी सर्वहारा का चारण बनाया। 'हमारी कूच' उनकी बड़ी ओजस्वी, शक्तिशाली और उत्साहपूर्ण रचना है। पर मयाकोव्स्की की व्यक्तिवादिता क्रांति की सामूहिकता के आड़े आई और उन्होंने भी येसेनिन की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद आत्महत्या कर ली।

ब्लोक ने भी 'नई शक्ति' का गुणगान किया था, पर वे उन दोनों से पूर्व ही 'भ्रम-विमुक्त' हो आत्महत्या कर चुके थे। पास्तरनाक अपने जीवन भर न अपने को क्रांति के आदर्शों के अनुकूल बना सके और न क्रांतिजन्य परिस्थितियों को अपने अनुकूल पा सके। 'हैमलेट' शीर्षक कविता उनकी असमंजसपूर्ण मानसिक स्थिति की द्योतक है; फिर भी क्रांति के पश्चात् कवियों में शायद इन्हीं का नाम रूस की सीमाओं को पार कर बाहर जा सका। उनकी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवादों के एकाधिक संग्रह देखने में आए हैं। शायद कवि रूप में पास्तरनाक की प्रसिद्धि बढ़ाने में उनके उपन्यास 'डा० जिवागो' संबंधी विवाद का भी हाथ है। उन्हें इस ग्रंथ पर नोबेल-पुरस्कार देने की घोषणा हुई, पर अपने देश का रुख देखकर उन्होंने इसे लेने से इन्कार कर दिया।

क्रांति के पश्चात् कतारबंदी के काव्य की अगर कोई विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं तो उनका महत्त्व बाहरी दुनिया से अधिक रूस के लिए है। पर, काव्य और साहित्य के प्रति एक प्रगतिवादी दृष्टिकोण अवश्य रूस से सारी दुनिया में गया, और हमारा हिंदी-काव्य भी उससे अपरिचित नहीं है।

रूसी साहित्य के विद्वानों का मत यह है कि क्रांति के पश्चात् रूसी साहित्य का झुकाव पद्य की अपेक्षा गद्य की ओर अधिक रहा है और साहित्य की विशिष्ट उपलब्धियों के लिए रूसी गद्य की ओर देखना चाहिए, विशेषकर उसके कथा-साहित्य को।

क्रांति के पश्चात् रूस के इतिहास की सबसे बड़ी घटना है उसका द्वितीय महायुद्ध में प्रवेश करना और विजयी होकर निकलना। उसी की स्मृति में इलिया एहरेनबुर्ग की 'बच्चे' शीर्षक रचना यहाँ दी गई है। एहरेनबुर्ग मुख्यतया गद्यकार हैं, पर इस कविता में युद्ध की विभीषिका की चेतना के साथ कवि की कोमलता और आस्तिक भावना की झलक भी मिलती है। रूढ़ साम्यवादी व्यवस्था में भी पारिवारिक सुकुमारता, वत्सलता और ईश्वरीय बोध के लिए स्थान है, इसे जानकर शायद वे लोग कुछ आश्वस्त हों जो उसे नितांत जड़, कृत्रिम और यांत्रिक समझ बैठे हैं।

युद्धोपरांत रूस की सबसे बड़ी उपलब्धि हुई है विज्ञान के क्षेत्र में। आज से पाँच वर्ष पूर्व सर्वप्रथम कृत्रिम चंद्रमा अंतरिक्ष में छोड़कर उसने सारे संसार को चकित कर दिया, और आज विज्ञान-संसार में चद्रमा पर पहुँचने के स्वप्न देखे जा रहे हैं। ऐसे समय में कोलीशेव की 'चाँद पर' शीर्षक रचना धरती-माता से मानव-पुत्र के उस अटूट सबंध की याद दिलाती है जो उसे बरबस, चंद्रमा से पृथ्वी की ओर खींचेगा। कवि कल्पना करता है कि भविष्य के चंद्र-प्रवासी के हृदय में,

'हुड़क उठेगी अपनी परिचित, पूत, पुरातन
धरती पर वापस आने की, पग रखने की,
चंद्र-जनित पर झटक-झाड़कर
अपने सुख, दुख, इच्छाओं के सहज भार को
सहज भाव से अपनाने की।'

सोवियत समाजवादी गणतंत्र पर स्तालिन के आधिपत्य के सुदीर्घ काल में कितना दृढ़ अंकुश-अनुशासन, नियंत्रण था; कितनी सख्त जकड़बंदी थी— जिसका अनुभव साहित्य-क्षेत्र में भी किया गया होगा—इसका कुछ रह-स्योद्घाटन निकिता-ख्रुश्चोव की अपेक्षया उदार नीति के युग में हुआ है। और, अब यदा-कदा ऐसे भी समाचार आते हैं कि वर्तमान रूस का नवयुवक लेखक वर्ग, साम्यवाद की सीमा में ही सही, अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के प्रति अधिक सचेष्ट हो रहा है।

इस क्षिप्र विहगावलोकन को समाप्त करने के पूर्व मैं रूसी काव्य के कुछ विशिष्ट गुणों की ओर भी ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। विविध युगों में विविध रूप लेते हुए भी समग्र रूसी काव्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।

रूस की भौमिक विराटता के बावजूद रूसी काव्य की परिधि सीमित है, उसके विषय साधारण और जन-जीवन के निकट हैं, उसका राग नियं-त्रित और स्वर संयमित है; जहाँ कल्पना के खुल-खेलने का अवसर है वहाँ भी वह अनुशासित होकर चलती है। कथ्य में वह तथ्य के निकट और कथन

में सीधी-सादी है। अतिशयोक्ति, शब्दाडंबर, कल्पना की उछल-कूद, अथवा दूर की कौड़ी लाने के प्रयास रूसी कविता में नहीं है। बावरा का मत है कि रूसी कवि अपना कथन पूर्ण करने के पहले ही रुक जाता है और पूर्ण प्रभाव के लिए पाठक से प्रत्याशा करता है कि वह शेष अपनी ओर से मिलाए। रूसी कविता का आनंद लेने के लिए पाठक में भावप्रवणता और जागरूकता का होना आवश्यक है।

रूसी कवि प्रकृति के प्रति—और रूस में उसके कितने ही रूप हैं!—सर्वदा सचेत रहते हैं। पर उन्होंने कभी प्रकृति पर अध्यात्म का आरोप नहीं किया, जैसे अपने यहाँ छायावादियों में पंत और महादेवी ने किया, या अंग्रेज़ी में वर्ड्सवर्थ ने। वे प्रकृति के सामान्य और परिचित रूप का ही वर्णन करते हैं पर उसका मानवीकरण करके नहीं, जैसे प्रसाद या निराला करते हैं। उनके यहाँ प्रकृति की अपनी अलग सत्ता है—ईश्वर से भी अलग, मनुष्य से भी अलग। प्रकृति तटस्थ भी है—मनुष्य चाहे तो उससे कुछ ले ले, कुछ उसका उपयोग कर ले।

प्रकृति की विविधता के समान रूसी कवियों का ध्यान मानव जीवन की विविधता की ओर भी जाता है, मानव स्वभाव की विविध और विचित्र गहराइयों की ओर। वे व्यक्ति की विशिष्ट परिस्थितियाँ मात्र नहीं देखते, उसके पीछे विशिष्ट आत्मा भी देखते हैं; अलग खड़े होकर नहीं, उसमें डूबकर, उसे अपने में आत्मसात् अथवा अपने को उसमें विलीन करके। इस छोटे-से संकलन में भी रूसी कवि, प्रेमी, बंदी, कृषक, पादरी, मजदूर, संगत राश, गाँव की लड़की, अभिनेता, अंतरिक्ष-यात्री आदि से भेंट की जा सकती है—और उनके अंतर्मन की झाँकी भी ली जा सकती है।

निजी अंतर्भावनाओं के भी रूसी बड़े सूक्ष्म कवि हैं। रूसी कवि का भाव-जगत् हृदय का हर कोना छूता है—प्रथम प्रेम के उल्लास से लेकर प्रेमी की अंतिम निराशा तक; प्रकृति के संसर्ग में, सहज आनंद से उस मन:स्थिति तक जिसमें मानव जीवन स्वल्प और सर्वदा निरर्थक प्रतीत होता है; मानव संपर्क में, साधारण आकर्षण से ऐसी सुकुमारता और उदा-

रता तक, जो आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान को सहज बना देती है (प्यार करूँ सबको, न किसी से कुछ भी चाहूँ); और यदा-कदा वह उन भावनाओं में भी डुबकी लगाता है जिन्हें रहस्यवादी कहा जाता है। सामाजिक यथार्थता के युग में यह बिल्कुल विलुप्त हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

जीवन में जो करुणाजनक है, दयापात्र है, पराजित है, दयनीय है, दुःखमय है, संत्रस्त है, दीन है उसके प्रति रूसी कवि अनिवार्यतः द्रवित होता है। वह उसे लेकर विद्रोह न खड़ा कर सके, पर उसे अपनी संवेदना देने से वह नहीं चूकता; और, अनेक अवसरों पर सत्ता और शासन का कोप-भाजन बनकर भी उसने ऐसी सहानुभूति दी है।

रूसी कविता की विशिष्टता में देश-प्रेम को भी स्थान देना होगा। अच्छा-बुरा जो कुछ भी है, रूस का होने के नाते रूसी कवि को प्रिय है— उसका अतीत, उसका वर्तमान और भविष्य का उसका आदर्श स्वरूप। अंधकार से अंधकारपूर्ण घड़ियों में भी उसने रूस के प्रति निराशा, अथवा उससे विरक्ति नहीं प्रकट की। जब उसे रूस के प्रति अपना असंतोष प्रकट करने का अवसर भी मिला है तो असंतोष से अधिक उसने अपनी वेदना प्रकट की है। ब्लोक की 'भ्रम-विमुक्त' कविता उदाहरण की तरह प्रस्तुत की जा सकती है। वह रूस की राजनीति से रुष्ट है, पर अपने स्वप्नों के रूस पर निछावर है। पास्तरनाक की भी कई कविताओं से ऐसी ध्वनि आती है। ऐसा नहीं है कि रूसी कवि प्रेरणा अथवा उदाहरण के लिए अपने देश-काल से बाहर नहीं जाता, पर वह अपनी शक्ति संचय करता है अपनी ही धरती से, अपने ही देश के संघर्ष से, अपनी ही देश-समर्पित आत्मा से।

अंत में इन पंक्तियों के लेखक को यह आशा है कि इस विहगावलोकन के द्वारा रूसी कविता के क्रमिक विकास, इतिहास अथवा उसकी विशिष्टताओं की जो संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की गई है, उसे कुछ विस्तार से इस संग्रह की कविताओं में देखा, परखा और पहचाना जा सकेगा।

चौंसठ रूसी कविताएँ

अलेक्सान्द्र पूश्किन

१ | पैग़म्बर[1]

दैवी दीप्ति प्राप्त करने की अमर तृषा लेकर मन में,
पागल-सा मैं घूम रहा था मरुस्थलों में, निर्जन में;
एक दूत स्वर्गीय विभा से संयुत सम्मुख प्रकट हुआ,
मेरे सारे तप, श्रम, संयम, साधन का फल निकट हुआ।

उसने अपनी कोमल उँगली से छू दी मेरी पुतरी,
लगा कि जैसे निशागमन पर नींद पलक पर हो उतरी,
और सामने मेरे चमकी भव्य भविष्यत् की रेखा,
भीत गरुड़ की भाँति फाड़कर आँख उसे मैंने देखा।

उसने मेरे कान छुए तो ऐसा मुझको ज्ञात हुआ,
अंबर से शत-शत वज्रों का जैसे साथ निपात हुआ;

---

१. १९५४ में जब यह कविता आकाशवाणी केंद्र, इलाहाबाद से प्रसारित हुई थी तब इसके साथ यह टिप्पणी दी गई थी :

इस कविता में पूश्किन ने छोटी-सी एक रूप-कथा के माध्यम से संसार को प्रोज्ज्वल बनाने के लिए व्याकुल और साधना-लग्न अपनी काव्य-प्रेरणा का अंतर्दहन ही चित्रित किया है। कविता साधारण-से वर्णन से उठती-उठती अंत में उत्तेजक एवं मार्मिक संदेश से भर जाती है।

और सुना मेरे कानों ने फिर नभ का कंपन थर-थर,
सुना अधर में उड़ने वाले नभ दूतों के पर का स्वर,

सुनी उदधि के उर की हलचल जिसमें चलते हैं जलचर,
सुना रसा से खींच रहे हैं रस कैसे तृण-दल-तरुवर।
झुककर मेरी ओर, हाथ अपना फिर मेरे मुँह में डाल,
उस नैसर्गिक दिव्य दूत ने ली वह मेरी जीभ निकाल,

जिसमें लिपटे थे युग-युग के झूठ, दोष, निंदा के पाप,
और बीच मेरे अधरों के, जो कि रहे थे भय से काँप,
एक साँप की दुहरी-तीखी जिह्वा उसने दी बस डाल;
दिव्य दूत के हाथ हो रहे थे मेरे लोहू से लाल।

फिर उसने तलवार उठाकर मेरा सीना चाक किया
औ' मंदस्पंदित मेरा दिल दूर काट कर फेंक दिया;
हुई इस तरह से जो खाली मेरी छाती की कारा
बंद कर दिया उसमें उसने एक दहकता अंगारा।

ऐसा परिवर्तित, मृत-सा था विस्तृत मरु में पड़ा हुआ
कि सुन गगन की गिरा गंभीरा सहसा उठकर खड़ा हुआ—

"उठो, और मेरी वाणी से दिग्दिगंत को ध्वनित करो,
उठो, प्रेरणा-बल से मेरे जल-थल खंडों पर विचरो।
कहीं रुको मत, और जहाँ भी मानव का अंतर पाओ,
मेरे संदेशों की ज्वाला उसके अंदर धधकाओ!"

२ | स्वर्ग दूत

एक नारकी, काला दानव, द्वेष बना मानो साकार,
नरक लोक के अंधकार पर मँडराता था बारंबार,
एक स्वर्ग के दिव्य दूत ने, जो था ममता का आगार,
देव लोक का द्वार खोलकर नीचे देखा नयन उघार।

उस शंका की मूर्ति और उस अविश्वास की प्रतिमा ने
ज्योंही उस दैविक विभूति की अद्भुत आभा को देखा,
त्योंही उसके हृदय-पटल पर पहली बार, बिना जाने,
खिंची अचानक,विवश प्रेम की जाग्रत,ज्वालामय रेखा।

और बोल वह उठा, "विदा, हो गया मुझे तेरा दर्शन,
तेरी छाया से कुछ पाया, मैंने, स्वर्गिक अभ्यागत,
अब संपूर्ण स्वर्ग से करते घृणा नहीं मेरे लोचन,
और न अब संपूर्ण धरा से ही वे करते हैं नफ़रत।"

३ | कवि

कवि को नहीं सुनाई पड़ता जब तक वाणी का आह्वान,
नहीं जानता जब तक उससे प्रत्याशित है क्या बलिदान,
जीवन के झंझट-झगड़ों में उलझा रहता उसका ध्यान,
जग की लघु-लघु चिन्ताओं में डूबा रहता उसका प्राण।
उसकी पावन वीणा रहती पड़ी शिथिल, निश्चल, चुपचाप,
जड़, जड़तर, जड़तम तंद्रा में गड़ता जाता अपने आप।
सभी ओर से घेरे रहती है उसको दुनिया निःसार,
उसको अपना जीवन लगता एक निरर्थक, दुर्वह भार।

लेकिन एक बार सुन लेते हैं जब उसके विस्मित कान,
स्वर्गलोक से जो मिलता है उसको वाणी का वरदान,
वह कल्पना-गगन मंडल में उड़ने को अकुलाता है,
सुप्त गरुड़ जैसे जाग्रत हो अपने पर फड़काता है।
जीवन के सब खेल-खिलौनों से वह लेता आँखें मोड़,
अपनी चाल चला जाता है, दुनिया करती रहती शोर।
दुनिया की पूजित प्रतिमाओं को देता वह ठोकर मार,
किसी जगह पर शीश झुकाना उसको होता अस्वीकार।

पर्वत की चोटी-सा होता उसका गर्वित उन्नत भाल,
उसकी गति में विद्युत होती, होता पैरों में भूचाल।
उसके स्वर के अंदर होता अंबुधि का गर्जन गंभीर,
झंझा का आवेग, प्रवाहित होता जो घन कानन चीर।

४ | साइबेरिया को संदेश[1]

साइबेरिया के वर वीरो, तुम्हें दिलाता हूँ विश्वास,
यदि तुम रक्खो ऊँची अपनी युग-युग अभिमानी गर्दन,
जिनसे तुमने भूमि भिगोई, व्यर्थ नहीं होंगे श्रम-कण,
व्यर्थ नहीं होंगे मंसूबे जो हैं चूम रहे आकाश।

आशा मत छोड़ो चाहे जितनी काली हो दुख की रात,
क्योंकि यही आशा है जिसकी प्राणदायिनी मृदु मुसकान
जिंदों में उत्साह भरेगी, फूँकेगी मुर्दों में जान,
और तुम्हारी आँखें देखेंगी नव युग का पुण्य प्रभात।

---

१. १९५४ में जब यह कविता आकाशवाणी केंद्र, इलाहाबाद से प्रसारित हुई थी तब इसके साथ यह टिप्पणी दी गई थी :

पूश्किन के समय में साइबेरिया का ठंडा, निर्जन वनप्रदेश रूस का काला पानी था। ज़ारशाही के विरुद्ध क्रांति की चेष्टा करनेवाले साहसी वीरों को देश निकाला देकर साइबेरिया भेज दिया जाता था। पूश्किन सरकारी पद पर प्रतिष्ठित थ, पर उनकी सहज सहानुभूति इन क्रांति-वीरों के साथ थी। इस कविता के द्वारा साइबेरिया के वर वीरों को जो संदेश उन्होंने दिया था, वह उनकी सहृदयता, निर्भीकता और प्रगतिशीलता का प्रमाण तो है ही, उसमें एक भविष्यवाणी भी है जो आगे चलकर सत्य हुई।

सारी दुनिया देगी तुमको संवेदना, स्नेह, सम्मान,
बंदीघर के लौह सीखचे नहीं सकेंगे उनको थाम,
लक्ष्य न तिल भर भी डिग पाए, रुके न पल भर को भी काम,
और सुनाई देगी तुमको मुक्तिदायिनी मेरी तान !

टुकड़े-टुकड़े हो जाएगी टूट ज़ालिमों की ज़ंजीर,
ढह जाएगी, बह जाएगी क़ैदीख़ानों की दीवाल,
आज़ादी की देवी तुमको पहनाएगी स्वागत माल,
और तुम्हारे हाथों में फिर चमकेगी विजयी शमशीर।

५ | तीन धाराएँ

जगती के विस्तृत आँगन में
जिसपर अंकित है अवसाद,
तीन छिपी धाराएँ बहतीं
जिनका भेद नहीं खुलता;
पहली है यौवन की धारा,
जिसमें लहराता उन्माद,
जिसमें कल्लोलित, हिल्लोलित
चलती मन की व्याकुलता।
और दूसरी धार कला की
जिससे कवि प्रेरित होता,
जिससे वह निर्जन के सूने-
पन में भी भरता संगीत;
अंतिम है जिसमें अंतर की
चेतनता खाती गोता,
सब सुध-बुध आमज्जित करता
अपने में जिसका जल शीत।

६ | बुलबुल

ओ गुलाब की कली कुमारी,
मुसकानों में क्या बंधन ?
लतिकाओं में अटका रखतीं
यद्यपि तुम बुलबुल का मन।

बंदी बन, वह शरण तुम्हारी :
कर लो तुम इसपर अभिमान,
अंधकार में दूर-दूर, पर,
गूँजा करता उसका गान !

७ | जाड़े की साँझ[1]

ले बर्फ़ीले बात-बवंडर, बीहड़ बादल, बिज्जु-वितान,
काले-काले आसमान में चढ़ता आता है तूफ़ान;
लगता कभी कि गर्जन करता कोई जंगल का हैवान
और कभी ऐसा लगता है रोता कोई शिशु नादान।
कभी इधर से, कभी उधर से झटका-झोंका आता है,
टूटी-फूटी छत का छानी-छप्पर हिल-हिल जाता है;
जैसे कोई पथ का बिलमा पंथी जब घर आता है,
आतुरता के साथ झपटकर दरवाज़ा खड़काता है।

---

१. १९५४ में जब यह कविता आकाशवाणी केंद्र, इलाहाबाद से प्रसारित हुई थी तब इसके साथ यह टिप्पणी दी गई थी :

रूस देश का जाड़ा अपनी भीषणता के लिए प्रसिद्ध है। जब आसमान में बादल घिर आते हैं, धरती बर्फ़ से ढक जाती है, और तूफ़ानों के शोर से कान के पर्दे फटने लगते हैं, तब एक क्षण के लिए वर्तमान को भूलकर मन सुधि और प्यार की दुनिया बसाने के लिए व्याकुल हो उठता है। पूश्किन की प्रसिद्ध रचना 'जाड़े की साँझ' में यही भाव व्यंजित है।

खड़ा झोपड़ा होगा मेरा दर-दर से ढीला-ढाला,
दीप न उसमें जलता होगा, फैला होगा अँधियाला;
मेरी बुढ़िया दाई खिड़की के समीप बैठी होगी,
वृद्धापन के आलस के बस, या हो संभवतः रोगी;
भूल गई होगी वह बीते दिवसों की बातें सारी,
गूंगी बनकर बैठी होगी सुन घन का गर्जन भारी।
या वह बैठी कात रही होगी चर्खा घन-घनन-घनन,
झुक-झुक पड़ती होगी उसकी पलकों पर निद्रा क्षण-क्षण।

आओ आज पिएँ मधु जी भर बिना हुए मन में भयभीत,
नौजवान के दुख-दर्दों की एक अकेली मदिरा मीत।
प्याला भर दो, आज वेदना माँग रही फिर मधु का दान,
एक बार फिर से अधरों के ऊपर छाएगी मुसकान!
आओ गाएँ गीत कि जिसमें एक अनोखा राजकुमार
सदा लगाए रहता अपनी आँखें रत्नाकर के पार;
या, आओ, मिलकर वह गाएँ गीत, सुरा के प्याले ढाल,
जिसमें एक छबीली जाती जल भरने को प्रात:काल।

ले बर्फ़ीले बात-बवंडर, बीहड़ बादल, बिज्जु-वितान,
काले-काले आसमान में चढ़ता आता है तूफ़ान;
लगता कभी कि गर्जन करता कोई जंगल का हैवान,
और कभी ऐसा लगता है रोता कोई शिशु नादान।

आओ आज पिएँ मधु जी भर बिना हुए मन में भयभीत
नौजवान के दुख-दर्दों की एक अकेली मदिरा मीत।
प्याला भर दो, आज वेदना माँग रही फिर मधु का दान,
एक बार फिर से अधरों के ऊपर छाएगी मुसकान !

८ | जाड़े की सुबह

अद्भुत प्रात ! बिछा भी कुहरा, छाया भी रवि-रश्मि-वितान!
पर जीवन के सुखमय साथी, अब भी तुम निद्रा-लयमान।
यह वह बेला है सुंदरता जब लेती है अँगड़ाई,
खोलो नयन, उघारो पलकें, जो निद्रा से गरुआई।
युगल नयन तारक चमकाओ उत्तर से, मन की रानी !
उत्तर के नभ में करने को अरुणोदय की अगवानी।

रात भयंकर आँधी ने था अंबर में डेरा डाला,
और पड़ा था सारी पृथ्वी के ऊपर गहरा पाला,
मुक्त न था धूसर बादल से नभ-मंडल का कोई भाग,
चंद्र दिखाई पड़ता था यों जैसे कोई पीला दाग़।
ले गंभीर उदासी बैठी थीं तुम सिर को नीचा कर,
लेकिन अब तो उठकर देखो अपनी खिड़की के बाहर !

निर्मल नील गगन के नीचे फैली है हिम की चादर,
सूरज की चटकीली किरणें पड़तीं उसपर आ-आकर,
धरती दिखलाई पड़ती है पहने मणिमय पाटंबर।

छिपे धवल-निर्मल परदों के पीछे हैं जंगल काले,
पेड़ सनोबर के लगते हैं कुहरे में भी हरियाले,
हिम की परतों के नीचे हैं बहते चमकीले नाले।

हर कमरे के भीतर फैला पीत-सुनहला उजियाला,
बुझी अँगीठी के अंदर से उठती, देखो, फिर ज्वाला,
जल 'चट-चट' कर, हर्ष प्रकट कर, ताप सुहाना फैलाती,
कितना सुंदर, बैठ यहाँ पर देखें सपनों की पाँती;
किंतु न क्या इससे यह अच्छा होगा मँगवाएँ जोड़ी,
और जुताएँ उसमें बढ़िया बादामी रँग की घोड़ी।

प्रातकाल की उजली-चिकनी बिछी बरफ़ पर से होकर,
आओ जीवन के प्रिय साथी, दूर चलें हम-तुम सत्वर,
चंचल घोड़ों को बढ़ने दें सरपट, कर दें ढीली रास,
चलो चलें उन सूने खेतों में जिनमें फैली है घास,
जंगल में, जिनमें गरमी में भी न किसी ने पग धारे,
और नदी-तट पर, जो मुझको हैं सब जगहों से प्यारे!

९ | बादल

ओ अंतिम बादल झंझा के, टूट चुका है जिसका बल,
धुले हुए नीले अंबर पर घूम रहे क्यों तुम केवल,
क्यों विषाद की छाया बनकर अब भी हो तुम अड़े हुए,
क्यों दिन के ज्योतिर्मय आनन पर कलंक बन पड़े हुए?

प्रलय मचा रक्खी थी तुमने अभी-अभी गगनांगन में,
भयप्रद विद्युत माला तुमने लिपटा रक्खी थी तन में,
दिग्दिगंत प्रतिध्वनित वज्र का व्यग्र गान तुम गाते थे,
ग्रीष्म प्रतापित पृथ्वी तल पर झर-झर जल बरसाते थे।

अलम् और अलविदा तुम्हें, अब नहीं तुम्हारे बल का काम,
बरस चुका जल, सरस धरातल शीतल करता है विश्राम,
और समीरण जो चलता है सहलाता तरुवर के पात,
तुम्हें उड़ाकर ले जाएगा नभ से, जो अब निर्मल-शांत।

१० | भावों की चिन्गारी

जारजियन[१] गिरि पर है रजनी अपनी चादर फैलाती,
मेरे मन को वहलाने को मंद-मधुर सरिता गाती;
औ' मेरी पलकों के ऊपर दुख की बदली घिर आती,
आँखों में तुम, इससे उनकी ज्योति नहीं घटने पाती।
आँखों में तुम, अंतर में तुम, पीड़ा तो अवगुंठन है,
शांत बना रक्खा इस पीड़ा ने जगती का क्रंदन है।
दिल के अंदर जब तक उठती है भावों की चिन्गारी,
प्यार करेगा, क्षार बनेगा! देखो उसकी लाचारी!

---

१. रूस की एक शृंगमाला

११ | तातियाना[1] का पत्र

अब जब मैं यह पत्र तुम्हें लिखने बैठी हूँ
सब कह दूंगी; और तुम्हें अब आज़ादी है
मुझे करो तुम घृणा; मुझे दंडित करने को,
नहीं जानती, इससे बढ़कर क्या हो सकता।
पर यदि मेरे लिए तुम्हारे अंदर करुणा
का कोई कण कहीं शेष है, तो तुम मुझको
निःसहाय, एकाकी छोड़ नहीं जाओगे।

तुम मेरा विश्वास करोगे?—पहले मैंने
यह सोचा था, एक शब्द भी नहीं कहूँगी।
यदि मैं ऐसा कर सकती तो मेरी लाज
ढकी रह जाती; कौन मुझे अपराधी कहता
देख तुम्हें यदि क्षण भर लेती, या सुन लेती
तुमको औरों से बतियाते, या दो बातें
ख़ुद कर लेती हफ़्ते में जब एक बार तुम

---

१. कुमारी कन्या का नाम-विशेष

आते मेरे गाँव; तुम्हीं में ध्यान रमाए
रात काटती, दिवस बिताती, बाट जोहती,
जब तक तुम अगले हफ़्ते फिर गाँव न आते।
मिलनसार तुम नहीं, यहाँ पर कुछ कहते हैं;
गाँवों का एकांत नहीं तुमको भाता है।
हमें दिखावा करना आता नहीं, तुम्हें, पर,
यहाँ देखकर सदा ख़ुशी हमको होती थी।
तुम क्यों आए ? और हमारे पास किसलिए ?
इस अनजानी, भूली-बिसरी-सी कुटिया में
पड़ी अकेली मैं न जानती तुम्हें कभी भी,
नहीं कभी भी विरह-वेदना, जो तुमने दी।
मृदुल भावनाएँ सब मेरी सोती रहतीं,
मन मेरा भोलेपन का धन सेता रहता;
—इस प्रकार से दिवस बिताते शायद ऐसा
दिन भी आता, कोई पति मुझको मिल जाता
मेरे मन का, और उसी की मैं बन जाती
प्रिय परिणीता, और किसी दिन बड़े मान से,
बड़े गर्व से माता बनती कोमल-पावन।
"और उसी की··!"—नहीं कभी भी, नहीं किसी भी
अन्य पुरुष को मैं अपने को अर्पित करती !
परम पिता परमेश्वर की ऐसी इच्छा थी;
मेरा भाग्य पूर्व-निश्चित था :—मैं तेरी हूँ !
मेरे जीवन का सारा अतीत आश्वासन-
सा देता था कि हम मिलेंगे, साथ बँधेंगे;

परमेश्वर ने इसीलिए तुझको भेजा था,
तू मुझको देखे, अपनाए; और मरण की
अंतिम शय्या तक तू मेरा संरक्षक हो।

तू अक्सर मेरे सपनों में भी आता था,
प्रिय लगता था, गो न जानती थी मैं तुझको;
बहुत दिनों से तेरे स्वर से मेरे तन की
शिरा-शिरा झंकृत होती थी; तेरी आँखें
मुझे लुभाती, मंत्रमुग्ध मुझको करती थीं,
लेकिन यह न समझ, मैं सपना देख रही थी।
जब तू आता था सपना सच हो जाता था,
मैं पहचान तुझे लेती थी, मेरे तन में
बिजली कौंध उठा करती थी, और ठिठककर
जहाँ की तहाँ खड़ी रहा करती थी सकुचा,
मेरा दिल मुझसे कहता था, "वह आ पहुँचा!"

इसमें कुछ भी झूठ नहीं, जैसे पहले के
विश्वासी सूने में आवाज़ें सुनते थे,
वैसे ही मैं तेरे शब्द सुना करती थी—
तुझे सुना करती थी उन नीरव घड़ियों में
जब कि गाँव के दीनों, दुखियों की परिचर्या
में रहती थी, या जब अपने भारी मन को
हल्का करने को प्रार्थना किया करती थी।
और आज क्या वही नहीं तू, जो आता था

चमक चीर घन अंधकार मेरी रातों का,
औ' मेरे तकिये के ऊपर झुक जाता था?
ठीक स्वप्न की मधुर मूर्ति फिर आगे आई।
देवदूत-सा क्या तू मेरा संरक्षक है?
या तू मुझको धोखा देनेवाली छलना?
मेरे भ्रम को, संदेहों को दूर हटा दे;
हो सकता है इसमें कोई सार नहीं है,
यह केवल नादान हृदय का सन्निपात है,
और भाग्य ने कुछ विपरीत बिरच रक्खा है,
लेकिन यदि ऐसा भी हो तो, इस क्षण से मैं
अपने को, अपनी क़िस्मत को, तेरे हाथों
सौंप रही हूँ, रोती हूँ आ तेरे आगे,
विनती करती हूं तू ही मेरी रक्षा कर।

ज़रा ध्यान दे, यहाँ अकेली पड़ी हुई हूँ;
कोई नहीं समझता मुझको; काम न देता
है दिमाग़ मेरा; कमज़ोरी, बेचैनी है।
अगर न खोलूं मुंह खोई-खोई रहती हूँ।
मुझको एक प्रतीक्षा तेरी; तेरी चितवन
एक जगा देगी मेरी उन आशाओं को
जो मेरे अंतर में सोई, मृतप्राय हैं,
या तेरी भर्त्सना एक उस स्वप्न-जाल को
खंड-खंड कर देगी जो मुझको घेरे है।
मेरे प्रति ऐसा व्यवहार उचित ही होगा।

ओर नहीं अब कुछ कहना है; जो लिख डाला
उसको पढ़ते हुए मुझे खुद डर लगता है;
ग्लानि और लज्जा में मैं डूबी जाती हूँ;
मुझे बचा सकती है तो बस तेरी करुणा;
मुझे भरोसा उसका ही है, अरी लेखनी,
लिख दे मेरा नाम अगर साहस रखती है,
कुछ न छिपाया जिससे उससे कैसा डरना !

१२ सुंदरता की शक्ति

मैंने सोचा था मेरा दिल शांत हुआ ऐसा बुझकर
मधुर प्रणय की ज्वाला इसमें कभी नहीं जल पाएगी,
मैंने कहा कि बीती घड़ियाँ, अंत हुआ जिनका सत्वर,
नहीं पलटकर आएँगी फिर, नहीं पलटकर आएँगी।

दूर गए उल्लास पुराने, दूर गईं अभिलाषाएँ,
दूर गए मनमोहक सपने जो थे आभा के आगार!
किन्तु सोचता था मैं जब यह लौट सभी तो वे आए,
उन्हें लिया था सुंदरता ने अपने बल से पुनः पुकार!

१३ | प्रार्थना

जग के संकट - संघर्षों में मन को सुदृढ़ बनाने को,
और हृदय को स्वर्गपुरी की ड्योढ़ी तक पहुँचाने को,

भक्तों ने, भक्तिनियों ने भी, जिनके काम-चरित्र पुनीत
लिख-लिख गाए और सुनाए हैं कितने ही पावन गीत।

लेकिन उन अगणित गीतों में, भजन-पदों में केवल एक
है ऐसा जिससे होता है मुझमें भावों का उद्रेक।

उपवासों की, पश्चात्तापों की, तिथियाँ जब आती हैं,
वही प्रार्थना तब हर गिरजे में दुहराई जाती है।

वही प्रार्थना उठा करेगी मेरे उर से बारंबार,
वही करेगी मेरे निर्बल मानस में बल का संचार :—

"ओ मेरी श्वासों के स्वामी ! दो मुझको ऐसा वरदान,
मेरे निकट न फटके आलस और निराशा का शैतान।

मन से कटकर जीभ न रटती जाए घटवासी का नाम,
करे नहीं विषयों का विषधर मेरे मन को अपना धाम।

अपने भाई की भूलों की ओर न जाए मेरा ध्यान,
किंतु न अपने अपराधों को कभी करूँ मैं क्षमा प्रदान।

जाग्रत हो मेरे अंतर में भाव समर्पण का, भगवान!
प्रेम, तपस्या, पावनता में देखूँ मैं अपना कल्याण।"

१४ | बुद्धि

मुझसे मेरी बुद्धि न छीनो, विनती करता हूँ, भगवान,
जी सकता श्रम सहकर, भूखा रहकर, लेकर भिक्षा-दान,
बुद्धि बिना पर कब कल्याण ?

मेरी बुद्धि नहीं, गो, ऐसी जिसपर हो मुझको अभिमान,
कोई मान सके तो, होगा इससे मुझको हर्ष महान,
यदि मैं इससे पाऊँ त्राण।

दुनिया अपने प्रतिबंधों से यदि कर दे मुझको आज़ाद,
करने दे मुझको जो चाहूँ तो भर अंतर में आह्लाद,
मैं भागूंगा वन की ओर।

और वहाँ डालूँगा अपने सपनों का तूफ़ानी दोल,
और अग्नि गीतों को गाता अपने कंठ अकुंठित खोल
हो जाऊँगा आत्म-विभोर।

वहाँ बैठकर सुना करूँगा निर्मल झरनों का गाना,
हर्ष-प्रफुल्लित, पुलकित मन से जब चाहूँगा मनमाना
ताकूँगा नव नील गगन;

लेंगी होड़ प्रबल झंझा से तब मेरी साँसें स्वच्छंद,
जो हरहर-मरमर कर बहती है मैदानों पर निर्द्वंद,
और झुमा देती कानन।

बुद्धि विकृति यदि हो जाए तो, यह दुनिया है ऐसी क्रूर,
तुमको रक्खेगी अपने से संक्रामक रोगी-सा दूर,
तुमको जकड़ेंगे बंधन।

दुनियावाले ज़ंजीरों से हाथ-पाँव दोनों कसकर,
ठेल तुम्हें देंगे ले जाकर पागलखाने के अंदर,
पशुओं-सा होगा जीवन।

पागल साथी वहाँ रहेंगे करते हरदम चीख-पुकार,
और सुनाई देगी रातों को रखवारों की फटकार,
और बेड़ियों की झनझन।

कभी नहीं फिर सुन पाओगे तुम बुलबुल का मंजुल राग
जिससे रजनी की छाया में गुंजित होता हर बन-बाग़,
वन्य विहंगों का गायन!

१५ | जीवन

मुझको यह मालूम नहीं है क्यों यह जीवन का वरदान
मुझे अचानक दिया गया है, जो इसके गुण से अनजान।
मुझको यह मालूम नहीं है क्यों करके इसका निर्माण
अंध नियति ने मृत्यु-लक्ष्य की ओर किया इसको गतिमान।

किस निर्दय, किस मनमानी ने सूनेपन का पर्दा फाड़
आदिहीन तंद्रा-निद्रा से मुझको सहसा लिया पुकार।
किसने मेरे मन के अंदर भर दी भावों की ज्वाला,
किसने ले मस्तिष्क उसे शत शंकाओं से मथ डाला।

नहीं दिखाई देता मुझको नयनों के आगे कुछ ध्येय,
मन को प्रेय नहीं मिलता है, बुद्धि नहीं पाती है श्रेय,
गर्जन करता है जीवन का मेरे पीछे नित्य अभाव,
बने हुए हैं मेरे मन के ऊपर उसके शत-शत घाव।

१६ | स्मृतियाँ

जबकि नगर के लेन-देन का, दौड़-धूप का सारा शोर
पड़ जाता है मंद और सड़कों औ' बाग़ों के ऊपर,
गिर जाता है निशि की पलकों का पर्दा हो नींद-विभोर—
नींद, छुड़ाती जो मानव को जग चिंताओं से भू पर।
किंतु रात में मुझको आती नींद न मिलता है विश्राम,
एक भीड़ दुःखद घड़ियों की विस्मृति से सहसा उठकर
धीरे-धीरे घुसती जाती मेरी छाती में अविराम,
और निगलने लगती उसको, जैसे विषदंती अजगर।
मूर्तिमान मेरा भय होता, और वेदनाओं की धार
थके हुए मेरे दिमाग़ पर उठ-उठ करती है आघात,
और खोलकर सुधि फिर अपना बीती बातों का भंडार,
मुझे सुनाती कथा कि जिसका मुझको अक्षर-अक्षर ज्ञात।
सुन अतीत की गाथा अपनी मैं होता शंकित, लज्जित,
और भीत-कंपित हो देता अपने को अभिशाप अनेक,
पश्चात्ताप भरे आँसू से होते मेरे नेत्र स्रवित,
किंतु समर्थ न होते धोने में वे उसका अक्षर एक!

१७ | एक रात

नींद नहीं मुझको आती है, दीप नहीं कोई जलता,
चारों ओर घिरा जो मेरे अँधियाला मुझको खलता,
खुट-खुट की आवाज़ें कितनी आतीं कानों में मेरे,
रात नापने को बैठी हैं घड़ियाँ ज्यों मुझको घेरे।

भाग्य देवियो, छेड़ पुराना बैठी हो पचड़ा-परपंच,
नींद-नशीली, झोंकों वाली होती यह रस-रात, वरंच;
चूहे जैसे काट-कुतर की करते रातों में आवाज़,
वैसी ही ध्वनियों से जीवन करता है मुझको नासाज़।

बतलाओ मतलब है क्या इन धीमी-धीमी बातों का,
ईश्वर जाने क्या शिकवा है इन दुखियारी रातों का।
क्या न बताओगी यह मुझसे तुम किस चिंतन में रहतीं,
मुझको आमंत्रित करतीं या बात भविष्यत् की कहतीं।
हाय, बताए कोई आकर मुझको शब्दों के माने,
जो कानों में कहती रहती रात अँधेरी अनजाने !

१८ | दुर्दिन

स्वप्न मिले मिट्टी में कब के,
और हौसले बैठे हार,
आग बची है केवल अब तो
फूंक हृदय जो करती क्षार।

भाग्य कुटिल के तूफ़ानों में
उजड़ा मेरा मधुर बसंत,
हूँ बिसूरता बैठ अकेला
आ पहुँचा क्या मेरा अंत।

शीत वायु के अंतिम झोंके
का सहकर मानो अभिशाप,
एक अकेली नग्न डाल पर
पत्ता एक रहा हो कांप।

१६ | शोकगीत

उतर चलो यौवन की मदिरा अब तो शेष खुमारी है,
पागल घड़ियों की रँगरलियों की सुधि मन पर भारी है,
सुरा पुरानी जितनी होती उतनी ही मादक होती,
याद पुरानी जितनी होती उतनी ही घातक होती।

अंधकारमय मेरा पथ है और भविष्यत् का सागर
गर्जन करता मेरे आगे बन विपदाओं का आकर;
लेकिन, भाई, मुझे नहीं है फिर भी मरने की अभिलाष,
घटी नहीं मेरी जीवन को, सपनों की, पीड़ा की प्यास।

मैं चिताओं और व्यथाओं और वेदनाओं के बीच,
सुख के अश्रु कणों से अपना मुर्झाया मुख लूँगा सींच,
एक बार फिर पागल होकर गाऊँगा मैं स्वर्गिक गान,
एक बार फिर स्वप्न करेंगे मेरे दृग स्रोतों से स्नान।

औ' जीवन की अंतिम बेला आएगी जब पास, उदास,
प्रणय विदा की मुसकानों से रंजित कर देगा आकाश।

२० | अंतिम चाह[1]

चाहे चलता हूँ सड़कों पर जिनपर नागरिकों का शोर,
चाहे चलता हूँ राहों पर जो जाते गिरजे की ओर,
चाहे बैठूँ वहाँ जहाँ पर यौवन करता है अभिसार,
मेरे मन के अन्दर उठने लगते हैं इस भाँति विचार—

देखो, कितनी जल्दी बीते जाते हैं सालों पर साल,
डाल चुका है, देखो, कितनों को अपने गालों में काल,
चली जा रही है सब दुनिया यम के पुर को आँखें मूँद,
देखो, कितनों के पाँवों के नीचे है मंज़िल मक़सूद।

---

१. १९५४ में जब यह कविता आकाशवाणी केंद्र, इलाहाबाद से प्रसारित हुई थी तब इसके साथ यह टिप्पणी दी गई थी :

मानव जीवन की क्षणभंगुरता का ध्यान आते ही मन में अवसाद भर जाता है और किसी न किसी प्रकार अपने को अमर बनाने का विचार जी को व्याकुल कर देता है। यह ऐसा भाव है जो देश-काल के बंधन से परे सर्वत्र मिलता है। पूश्किन ने अपनी इस रचना में यही भाव व्यक्त किया है। पर यह जानते हुए भी कि एक दिन इस जीवन का अंत होना ही है, कवि दुःखी नहीं होता, वरन् वह भविष्य के प्रति अपनी शुभ कामनाएँ अर्पित करता है।

और सोचता हूँ यह युग-युग तक रहने के हेतु बना,
मैं मृत-विस्मृत हूँगा, इसमें पत्र लगेंगे नए-नए,
पिता-पितामह भी तो मेरे होंगे योंही सोच गए।

फैला हाथ उठा लेता हूँ गोदी में शिशु ललित, ललाम,
और कहा करता हूँ उससे, "तुमको मेरा विदा-प्रणाम,
ध्वनित करोगे तुम घर जिसको मैं कर जाऊँगा सुनसान,
खिलते जाते दिवस तुम्हारे, मेरे होते जाते म्लान।"

प्रति पल,प्रति दिन और प्रति निशा,प्रति सप्ताह और प्रति मास,
मुझे ध्यान रहता है इसका मौत चली आती है पास,
औ' पूछा करता अपने से कब आ पहुँचेगा वह काल
जबकि गले मेरे डालेगी वह अपनी बाहों का जाल।

मेरा अंत कहाँ आ मुझको बाँधेगा भुज-बंधन में,
दूर देश में, वन-विदेश में, सागर या समरांगण में,
या समीप की घाटी कोई मुझको पकड़ बुलाएगी,
और हरण कर प्राण बदन पर हिम का क़फ़न उढ़ाएगी।

इसकी कुछ परवाह नहीं है कहाँ छूटता मेरा प्राण,
कहाँ उसे मिलता है विजड़ित काया के बंधन से त्राण,
लेकिन किसे नहीं होता है अपनी ड्योढ़ी से अनुराग,
मौत मिलेगी मुझे वहीं, यदि होगा मेरा ऐसा भाग।

यही चाहना केवल, मेरी क़ब्रगाह के चारों ओर,
खेल रहे हों, कूद रहे हों हँसमुख बच्चे हर्ष-विभोर,
और प्रकृति निज आँगन साजे ऐसी छवि से अतुल, अनंत,
एक बार जिसमें आकर फिर जाना जाए भूल बसंत।

२१ | यादगार

मैंने अपनी यादगार ली बना, नहीं पर हाथों से,
होगी इसकी पूजा दुनिया भर के झुकते माथों से,
देखो यह नभ में गर्वोन्नत अपना शीश उठाती है,
इसके नीचे खड़ी सिकंदर की मीनार लजाती है।

मूक बना दे मौत मुझे पर वीणा तो होगी वाचाल,
मुझे वहाँ पर पहुँचाएगी जहाँ नहीं जा सकता काल,
एक सुकवि का भी वसुधा पर जब तक शेष रहेगा धाम,
बजा करेगी मेरी वीणा, जगा करेगा मेरा नाम।

रूस देश की विस्तृत पृथिवी मेरी कीर्ति गुँजाएगी,
हर सजीव भाषा मानव की मेरी कविता गाएगी,
स्लाव[1] और फ़िन, कलमुक, तुंगुस की मैं अभिमानी संतान,
जिनके गौरव की गाथा से परिचित हैं रूसी मैदान।

---

१. रूस में बसी हुई जातियाँ

फ़ेदोर त्यूतशेव

२२ | कवि

ओ भोली-भाली सुकुमारी,
कवि को अपना कभी न कहना,
और कभी भी तुम उसका विश्वास न करना,
तुम पर क्रोध करे तो डरना, क्या न डरोगी ?
लेकिन तुमको प्यार करे तो ज़्यादा डरना।

उसके पास न जाना, उससे व्याह न करना,
सोच, कि दो हृदयों का मधुमय गठबंधन है
प्यार हमारा;
बाँधोगी अपने झीने-झीने आँचल में,
कुसुम-कुमारी,
एक दहकता-सा अंगारा।

उसके भाव-विचारों में तूफ़ान मचलते
पर उसका अधिकार न कुछ भी
अपने ऊपर,
उसके सिर को घेर रही जो विद्युत-माला

भस्म तुम्हारे कुंतल होंगे
उसको छूकर।

दुनिया अंधी है जो उसको साधु समझती
और बाद को उसकी निन्दा
करती फिरती,
उसके मुख में नहीं सर्प का दंत विषैला
किंतु भ्रमर की जीभ कि जिससे
रसमय कलियों के उर की पंखुरियाँ चिरतीं।
डरो न इसको सोच
कि कवि अपने हाथों से
कभी तुम्हारा पावन अवगुंठन फाड़ेगा।
वह अनजाने-अनजाने में
कभी तुम्हारा गला घोटकर
तुम्हें बादलों से भी ऊपर पहुँचा देगा।

२३ | पुरानी चिट्ठियाँ

वह बैठी थी धरती पर; उसके आगे थी
पत्रों की ढेरी जिनको वह फाड़-फाड़कर
फेंक रही थी, क्योंकि आग जो दहक रही थी
उनके अंदर, अब ठंडी थी।

परिचित अक्षर और पंक्तियों को वह बैठी
एक अजनबी की आँखों से देख रही थी,
मृतकों की आत्माएँ जैसे देख रही हों
अपने चोले जिनमें पहले वे बसती थीं।

इन पत्रों में उसका कितना कुछ था जिसको
वह विनष्ट कर बिसरा देना चाह रही थी—
वे मधुमय क्षण जो अतीत में समा गए थे,
प्यार-ख़ुशी की घड़ियाँ जो सुधि में संचित थीं।

मैं उदास-चुपचाप खड़ा देखता रहा यह;
काँप रहे थे घुटने औ' दिल बैठ रहा था,
लगता था मेरी पलकों के ऊपर कोई
काली छाया उतर रही है।

२४ | शांति

मुख से कोई शब्द न निकले ।
दिन-प्रतिदिन जो भाव-विचार उठा करते हैं
उन्हें छिपाओ ।
वे रजनी में नक्षत्रों की तरह उदित हों,
प्रभा बिखेरें और अस्त हों—
अनाहूत, अनसुने, अनसराहे ।
तुम उनपर आँख लगाओ,
बलि जाओ,
पर मुख से कोई शब्द न निकले ।

हृदय हृदय से कब शब्दों में बोला करता ?
शब्द और संगीत कहाँ विश्वास जगाते,
जिसके बल पर हम जी सकते, मर सकते हैं ?
हर विचार जो व्यक्त हो गया झूठ निकलता ।
धारा को अटूट बहने दो,
स्वच्छ तथा निर्मल रहने दो,
हाथों से जल को मत हलकोरो, छलकाओ,

ओठ लगाकर पीते जाओ,
मुख से कोई शब्द न निकले।

अपने अंदर धँसो,
रहो परियों की या जादुई कल्पना की दुनिया में
जहाँ जगत का हल्ला-गुल्ला नहीं पहुँचता,
और जहाँ के रहस राग के लिए
धरा के कान बधिर हैं।
उनको अनको,
वारो मन को,
मुख से कोई शब्द न निकले।

२५ | मज़दूर और मसीह

पूरे दिन, जब तक उसके हाथों में बल था,
वह हलवाहा भारी हल को धीरज धरकर
चला रहा था, उलट रहा था
बड़े-बड़े माटी के ढोंके
जिनके ऊपर घास उगी थी,
बना रहा था लंबे-गहरे खूड़ खेत में।

"उफ़! जब मुझको घेरे निर्दय घृणा खड़ी थी,
मेरे पौरुष-हिम्मत पर ताने कसती थी,
मेरी मेहनत पर हँसती थी,
भूत की तरह दिए काम में जुता हुआ था,
पर अब चूर हुआ हूँ थककर,
चूर हुआ हूँ!

अब मुझको आराम चाहिए!
काश, निदारे मैदानों में
छायावाले तरुवर होते जिनकी डालें

मेरी स्वेद-सनी काया के ऊपर
मेहरावों-सी झुकतीं
जिनके नीचे कल-कल करती धारा बहती !

काश कि क्षण भर
उस छाया में, उस धारा के ऊपर झुककर
प्यास बुझाता, लंबी-ठंडी साँस खींचता,
जैसे नभ की सांध्य गंध भी पी जाऊँगा।
काश कि जल से अंजलि भर-भर
सिर-माथे का गर्द-पसीना धोता,
अपनी चिंताओं का भार हटाता !"

"बड़ा मूर्ख है ! छाया तेरे लिए नहीं है !
तुझे नहीं आराम बदा है ! काम किए जा !
करता ही जा।
डाल नज़र खेतों पर कितना कुछ करने को !
कितना थोड़ा समय बचा है !
उठ ! न पराजित हो तू अपनी कमज़ोरी से !
तेरे स्वामी की आज्ञा है !
उठ ! फिर अपना काम शुरू कर।

तुझे खरीदा था मैंने भारी क़ीमत पर,
उस सलीब से जिसपर मैंने अपना जीवन-रक्त दिया था !
हलवाहे, जो काम बताया मैंने तुझको

तू कर उसको शीश झुकाकर,
मेहनतकश, मेहनत कर कसकर अनथक दिन भर!"

"प्रभु, तेरी इच्छा के आगे मैं नत-मस्तक,
कंपित, अर्पित!
तेरे अज्ञानी सेवक ने जो प्रमाद-वश कह डाला था
तेरी न्याय-पुस्तिका में मत हो वह अंकित।

जो तेरा आदेश करूँगा उसको पूरा
स्वेद और श्रम से बे-हारे,
मैं न थकूंगा, मैं न झुकाऊँगा पलकों को
लगा न पाता जब तक तेरा काम किनारे।

अब तेरा सेवक आलस-वश कभी न होगा,
हाथ हटाएगा न कभी हल के हत्थे से,
भली भाँति उन खेतों को तैयार करेगा
जिनमें तेरे वरद करों से बीज पड़ेगा।"

अलेक्सेइ कोल्तसोव

२६ | बुलबुल

इस गुलाब की सुंदरता पर
यह बुलबुल मदमाती है,
जब देखो तब उसपर झुककर
मधुमय गीत सुनाती है।

वह अपने भोले स्वप्नों में
सोया-खोया रहता है,
धुन सुनता है, नहीं समझता
गीत व्यथा जो कहता है।

कवि अपने मन की वीणा पर
मधुमय राग बजाता है,
अपनी विरहाकुल घड़ियों का
ध्वनिमय चित्र बनाता है।

उसके दिल की हर धड़कन को
कह देती उसकी वाणी,

पर सुनकर भी नहीं समझती
उसकी भोली दिलजानी।

"किसके हित", वह बाला पूछा
करती है, "तुम गाते हो ?
वह है कौन कि जिसको अपना
दुखमय गीत सुनाते हो ?"

२७ | वृद्ध का गीत

मैं घोड़े पर ज़ीन कसूंगा—
बड़ा तेज़ मेरा घोड़ा है—
उसको सरपट दौड़ाऊँगा,
तेज़ बाज़ की तरह उड़ेगा,
जल पर होता, थल पर होता,
दूर देश को—
परी-देश को ले जाएगा।
वहाँ पुकारूँगा अपने खोए यौवन को,
वह लौटेगा।
यौवन को पाकर फिर
मैं मज़बूत बनूंगा,
दिव्य स्वर्ग का दूत बनूंगा।
फिर मुझपर स्वर्गिक सुन्दरियाँ
मोहित होंगी !
तब मुझमें क्या भाव जगेंगे ?
पर जो सुधि के पार गया

उसका पथ कोई,
हाय, नहीं बतला पाएगा !
कभी नहीं सूरज पच्छिम से
अपना मुखड़ा दिखलाएगा !

२८ | पोत

फेन-भरे सागर के ऊपर नील कुहासा,
जिसे चीरता श्वेत पाल ऊपर उठता है;
दूर देश में क्या है जिसके लिए पोत भागा जाता है?
पास भला क्या ऐसा जिससे भाग रहा है?

पवन झकोरे लेता है, लहरें लहरातीं,
चरमर कर मस्तूल बढ़ा आगे जाता है;
सुख को पीछे छोड़ न यह जाता है आगे
और न सुख के पीछे ही यह भाग रहा है।

हरी फेन से भरी तरंगें नीचे उठतीं,
किरण सुनहरी सूरज की ऊपर बिखरी है,
पोत होड़ ले रहा निरंतर तूफ़ानों से
जैसे तूफ़ानों में ही सब शांति भरी है।

२६ | स्वर्गदूत

एक रात को नील गगन में स्वर्गदूत उड़ता जाता था
और साथ ही मंदस्वर में एक गीत गाता जाता था।
चाँद, सितारे, बादल--सब आश्चर्य-चकित हो
सुनते थे जो गीत स्वर्ग का वह गाता था।

वह गाता था उनकी गाथा भाग्यवान जो दिव्य वेश में
प्रभु के मधुवन में रहते हैं, जिनसे रहता पाप अजाना;
वह गाता था प्रभु की महिमा मुक्त कंठ से
क्योंकि भीति-विद्वेष-मुक्त था उसका गाना।

लिए हुए था अपनी गोदी में वह छोटा जीव कि जिसका
जन्म जल्द होनेवाला था इस कलंक से भरी धरा पर;
स्वर्गदूत का गीत याद हो गया जीव को,
गीत, कि जिसमें शब्द नहीं थे और न अक्षर।

जीवन की भारी घड़ियों में गीत स्वर्ग का दुहराने को,
सुन पाने को, एक विचित्र व्यथा उठती थी उसके मन में,
किंतु गीत वह याद नहीं उसको आता था
इस धरती के दुःख-शोक-संकुल क्रंदन में!

३० | जीवन का प्याला

अभी हमारी आँखों पर परदा ही पड़ा हुआ रहता है
औ' हम जीवन-प्याले से पीने लगते हैं,
और हमारे ही रोदन के अश्रु कणों से
इस अद्भुत कंचन-प्याले की कोर भीगती।

औ' जब आँखों पर से परदा हट जाता है—
जैसे आकर मौत सामने खड़ी हो गई—
तब परदे के साथ भेद सब खुल जाता है,
क्या था वह जादू जो सिर पर चढ़ा हुआ था।

हाय, हमें तब अनुभव होता, चमक रहा था
जो कंचन का प्याला वह अस्तित्वहीन था,
भरा हुआ था वह जिससे केवल सपना था,
और स्वप्न भी नहीं हमारी आँखों का था !

३१ | बंदी

छू रहा है सूर्य पच्छिम के क्षितिज को,
दूर पर जो घास, कंचन-सी चमकती,
धूलिमय पथ से गुज़रते बंदियों की
शृंखलाएँ झनझनातीं।

सिर मुंडे उनके; चले वे जा रहे हैं,
थके पावों को उठाते औ' बढ़ाते,
मस्तकों पर वेदना की हैं लकीरें
औ' दिलों में धड़कनें संदेह की हैं।

वे चले ही जा रहे, परछाइयाँ उनकी बढ़ी ही जा रही हैं,
सिर झुकाए जानवर दो एक गाड़ी खींचते हैं,
एक पहरेदार जिसमें ऊँघता-सा
जा रहा कुछ फ़ासले पर।

(एक बंदी बोलता है)
"भाइयो, गाएँ न मिलकर गीत कोई ?

और क्षणभर के लिए दुर्भाग्य अपना भूल जाएँ !
जन्म जब हमने लिया था,
तभी विधि ने लिख दिया था,
हम बड़े हों तो बड़ा ही कष्ट पाएँ !"

साथ मिलकर एक धुन वे छेड़ते हैं
और फिर धुन गीत में है फूट पड़ती, गीत जिसमें
दिन बड़े सुख-चैन के हैं
और मौसम है सुहाना
और लंबा एक दरिया दूर तक स्वच्छंद बहता जा रहा है।

और वे स्वाधीनता का औ' खुले मैदान का हैं गीत गाते,
और ऐसी आन का जिसको झुका दुनिया न पाती।
ढल रहा दिन, और पथ पर बंदियों की
शृंखलाएँ झनझनाती चली जातीं।

३२ | अंधा पादरी

हो गई थी साँझ, कँकरीली सड़क सूनी पड़ी थी,
बीद[1], अंधे पादरी, ने वस्त्र जो थे पास पहने,
एक लड़के की उँगलियों का सहारा लिया,
नंगे पाँव ही वह चल पड़ा उपदेश देने,
हवा में उसका फटा-ढीला लबादा लगा उड़ने।

जंगली निर्जन डगर अब और सूनी औ' भयानक हो चली थी—
यहाँ झाँखड़, वहाँ कोई ठूँठ, कोई पेड़ क़द्दावर, पुराना,
इधर टीला, उधर कोई बड़ी-सी चट्टान
आगे को झुकी, काई ढकी, जैसे पकी
अपनी उमर बतला रही हो।

और लड़का थक गया था। या दिखाई दे गई थी
उसे मीठे बेर की झाड़ी निकट ही।
या कि अंधे पादरी से महज़ एक मज़ाक करने की ग़रज़ से

---

१. नाम-विशेष

कहा उसने, "मैं ज़रा आराम कर लूं,
आपके उपदेश देने का समय अब आ गया है,
शुरू कर दें अगर चाहें।

ग्रामवालों ने पहाड़ी से लिया था देख हमको इधर आते,
औरतें बैठी प्रतीक्षा कर रही हैं,
सड़क के दोनों तरफ़ हैं खड़ी बच्चों की क़तारें,
और कितने बड़े-बूढ़े! —आप इनसे
आसमानी बाप का गुण-गान करिए,
और उसके पुत्र का, जो हम सबों का पाप धोने के लिए
बलि हो गया था।"

पादरी के झुर्रियों से भरे चेहरे पर अचानक चमक आई,
जिस तरह दृढ़ वक्ष गिरि का चीरकर के
बंद जल का स्रोत बाहर निकल पड़ता,
पादरी के सूखते-से कंठ से उद्भूत
वाणी प्रेरणामय लगी बहने।

बैठ उसकी जीभ पर क्या आस्था बोली स्वयं थी?
आँख अंधी पढ़ रही थी क्या गगन के पार का अभिलेख कोई?
श्वेत केशों से घिरा चेहरा नबी की भाँति ऊपर को उठा था,
और उसके अंध कोयों में छलकते अश्रुकण थे झलमलाते।

चाँद पीला पर्वतों के पार अब ढलने लगा था,
स्वर्ण वर्णी लालिमा पूरब दिशा से झाँकती थी,

रात-उतरी ओस निचली घाटियों में झड़ चली थी,
किंतु अंधा पादरी तन्मय अनवरत बोलता ही जा रहा था।

हाथ उसका दबा सहसा और हँसते हुए लड़के ने कहा,
"बस करो ! अब सब जा चुके हैं ! —चलें हम भी।"
पादरी रुक गया, उसने मौन हो गर्दन झुकाई
और तब,
जैसे कि चारों ओर भारी भीड़ ही हो,
जंगली जड़ पत्थरों से साथ उठ
"आमीन !" की आवाज़ आई !

३३ | हंस की मौत

एक तंत्री काँपते स्वर से कहीं मनुहार करती,
वाटिकाएँ चमक उठती हैं अचानक रोशनी में
औ' पथों पर भीड़ चलती।
भी कुछ सक्रिय-सजग है,
एक चलती है नहीं तो हवा जिससे
सान्ध्य नभ में घिरे बादल छटें-बिखरें।

अंध नभ के तले काई-ढका अंधा एक सोता,
और उसमें दृष्टि-रोधी नरकुलों से घिरा कोना,
जहाँ संध्या की करुण छाया लपेटे
एक घायल हंस, दुःसह पीर-विजड़ित,
आह ! अनजाना, अकेला,
मृत्यु के क्षण की प्रतीक्षा कर रहा है।

शक्ति उसकी क्षीण इतनी हो गई है
देखने को वह नहीं आँखें उठाता
(मानवों के प्रति घृणा, या लाज उनसे, अंत तक नातो निभाता)

आतशी वह बाण जो नभ का अँधेरा चीरकर के
टूटता है और उसपर चिन्गियों की ज्योतिमय बौछार करता।

फ़िक्र सुनने की नहीं उसको
कि बहती मंद जल की धार कहती जा रही क्या,
पास ही जो है सिसकती निर्झरी वह वेदना बतला रही क्या;
आँख उसकी बंद है, स्वच्छंद सपने से भरा मस्तिष्क उसका,
उड़ रहा वह, उठ रहा ऊँचे, बहुत ऊँचे, जहाँ से
हारकर बादल धरा को लौट जाते।—
ओह! दो डैने, लगाकर होड़ कैसी,
भेदते आकाश को ऊपर उठेंगे—
दिग्विजय की ज्यों ध्वजाएँ।
ओह! घायल हंस कैसा गीत—अंतिम गीत—गाएगा
कि सुनने को जुड़ेंगे देवता, देवांगनाएँ![1]

गीत अंतर का, परम पावन क्षणों का,
कर्णगोचर मानवों को तो न होगा,
हंस, पर, स्वर हंस का पहचान लेंगे,
और उसकी श्वेतवर्णी जाति के मृदु कंठ शत-शत
प्रतिध्वनित उसकी अमर वाणी करेंगें।—

एक क्षण की देर है—बस एक क्षण की—एक क्षण की
मुक्ति के नभ-गान का नव जन्म होने जा रहा है!

---

१. ऐसा विश्वास है कि मरने के पूर्व हंस एक ऊँची उड़ान भरता है, एक गीत गाता है।

पंख दुंदुभि-सी बजाते (हो रही हरकत परों में !)
दे रहे उसको सलामी
जो सवेरे का विधाता आ रहा है।

—इस प्रकार समाधि टूटी। एक भी पर हिल न पाया :
कल्पना की वे उड़ानें वे-उड़ी थीं,
कल्पना का गीत अनगाया हुआ था,
कल्पना की रागिनी ही मंद होकर,
मंदतर होकर, हुई थी शान्त;
पंछी मर गया था
उस अँधेरे में जहाँ पर वह पड़ा था।

एक झाड़ी कँपी;
नरकुल इस तरह लहरा अलग हो गए सहसा
एक झोंका हवा का, हल्का, चला चुपचाप आया।
मुसकराया बाग़,
चमका, कालिमामय गगन के नीचे अचानक।
और तंत्री काँपते स्वर से रही मनुहार करती !

३४ | भूखा

खड़ा हुआ है कृषक सामने
दु:ख-द्रवित हैं उसके दृग,
ज़ोर-ज़ोर से साँसें चलतीं
डगमग-डगमग करते पग।

वह अकाल-पीड़ित है, खाने
को पाता पेड़ों की छाल,
घोर कालिमा मुख पर छाई
काया है केवल कंकाल।

अंतहीन कष्टों ने उसको
कुचल दिया,कर दिया विमूक,
उसकी आँखें पथराई हैं
और हृदय उसका सौ टूक।

धीमे चलता जैसे कोई
ले पलकों पर निद्रा-भार,

वह जाता उस ओर जहाँ पर
उसकी बोई हुई जुआर।

रखता है अपने खेतों के
ऊपर अपनी अपलक डीठ,
और खड़ा होकर गाता है
एक बिना स्वरवाला गीत।

"ओ जुआर के खेत, उगो तुम,
जल्दी-जल्दी पको, बढ़ो,
और जोतने, बोने, सिंचित
करने का श्रम सफल करो।

मुझे एक रोटी दो जिसकी
नाप न मुझसे हो पाए,
मुझे एक रोटी दो जिससे
सारी पृथ्वी ढक जाए!

सब की सब मैं खा जाऊँगा,
क्यों छोड़ूंगा कण भर भी;
नहीं भूख ने छोड़ी ममता
बीवी औ' बच्चों पर भी!"

३५ | बे-कटा खेत

बीत चला है पतझड़, चिड़ियाँ चली गई हैं
गर्म प्रदेशों को; वन की डालें नंगी हैं;
पड़ा हुआ मैदान सपाट; खड़ी है अब भी
एक खेत में फ़सल, अकेले एक खेत में।
इसे देखकर मैं उदास होता,
विचार में पड़ जाता हूँ :—

निश्चय बालें इसकी आपस में काना-फूसी करती हैं :
"यह पतझड़ की हवा, कि इसके कर्कश स्वर से कान पक गए।'
"ऊब गई मैं बार-बार धरती के ऊपर शीश झुकाते
और गिराते और मिलाते मिट्टी में मोती-से दाने।"

"ये घोड़े जंगली हमें भारी टापों से खूंद-कुचलकर चल देते हैं!'
"ये खरगोश चलाते अपने पंजे हम पर!"
"होश उड़ानेवाले सर्द हवा के झटके!"
"जो भी पक्षी आता अपनी चोंच मारकर दाने चार गिरा लेता है।'
"भला आदमी कहाँ रह गया?"
"बात हुई क्या?"
"निकली सबसे बुरी फ़सल क्या इसी खेत की?"

"उगी, बढ़ी, दाने लाई—क्या कमी रह गई ?"
"ऐसी कोई बात नहीं है !"
"सबसे अच्छी फ़सल हमीं हैं।"
"कितने पहले हम बालें भर गईं, झुक गया डंठल-डंठल !"
"इसीलिए क्या उसने धरती जोती-बोई
उपज हमारी पतझड़ की झंझा में बिखरे ?"

इन प्रश्नों का दर्द-भरा उत्तर लेकर के
गर्द-भरे दो झोंके आए :
"काम तुम्हारा करनेवाला चला गया अब।
खेत जोतते-बोते उसने कब जाना था,
वक़्त काटने का आएगा, वह न रहेगा।
अब वह खा-पी नहीं सकेगा—उल्टे, कीड़े
उसकी छाती को खा-खाकर चलनी करते,
वह मुँह खोल नहीं पाता है।
और बनी थी जिन हाथों से क्यारा-क्यारी
अब वे सूख हुए हैं लकड़ी।"

"आँखों पर ऐसी झिल्ली है, देख न पातीं।
उसकी वाणी, जो उसके अवसादों को मुखरित करती थी,
मूक हो गई।
जो हलवाहा हल का हत्था कसकर थामे
खेत जोतते सोचा करता,
और सोचते जोता करता,
दबा हुआ मिट्टी में सड़ता !"

३६ | प्रेयसी से

प्रेयसि, क्या तुम नहीं देखतीं ?
जो है चारों ओर हमारे
वह केवल परछाईं,
प्रतिबिंबित छाया है,
उन चीज़ों की जिनको
आँखें नहीं देखतीं।

प्रेयसि, क्या तुम नहीं सुन रहीं ?
धरती पर जो ध्वनियाँ होतीं,
वे हैं केवल अस्फुट-खंडित
प्रतिध्वनियाँ उस विजय गीत की
दूर कहीं जो गाया जाता,
जिसको कान नहीं सुन पाते।

प्रेयसि, क्या महसूस न करतीं ?
एक हमारा सुख ऐसा है

जिसका अन्त नहीं हो सकता,
जो कि प्रणय का मूक निवेदन,
जो प्रणयी का मौन समर्पण,
जिसको शब्द नहीं कह पाते !

३७ | मिट्टी

ईश्वर ने मिट्टी से मेरा निर्माण किया
पर मुक्त नहीं मिट्टी से उसने किया मुझे;
घाटी से चोटी तक जो कुछ इस धरती पर
सब मेरा ही है रूप दूसरा, प्रिय मेरा।

जब दूर सड़क तक मेरी आँखें जाती हैं
मुझको लगता है, उसके पत्थर-पत्थर को,
उसपर चलते पावों, उसपर चक्कर खाते
पहियों को मैंने बहुत निकट से जाना है,
जैसे वे सब मेरी मुट्ठी के अंदर हों।

जब किसी सलिल की धारा का कलकल-छलछल
मेरे कानों में पड़ता है मुझको लगता,
यह पृथ्वी का रस लाई है,
जो मेरे वासंती उपवन को
जीवन-यौवनदायी है।

थियोदोर सोलोगुब

३८ | लोरी—वृद्ध के लिए

टूट गई है नींद,
अभी दिन हुआ नहीं है;
चारों ओर अँधेरा है, कुहरा छाया है;
लेकर एक जम्हाई कहता हूँ कि "उठूँ क्या ?"
नहीं ! गुदगुदे बिस्तर में मैं
पड़ा-पड़ा आराम करूँगा।
ओ प्यारी माँ, एक सुहानी
लोरी गा दे, मुझे सुला दे।

बीत गए हैं दिन यौवन के,
सुख की सिर्फ़ कहानी बाक़ी,
लेकिन मेरे स्वप्न सलोने
एक बार फिर मुझे पालने में लाए हैं।
माँ तो लौट नहीं सकती है,
इसी लिए मैं ख़ुद ही गाऊँ,
दुखिया मन को बहलाने को
मीठी लोरी एक सुनाऊँ।

जब दिन भारी हो जाता है,
नींद उसे हल्का करती, पीड़ा हरती है,
कटुताएँ विस्मृत होती हैं,
मैं फ़िर बच्चा बन जाता हूँ—
नील गगन के नीचे
फूलों को चुनता हूँ,
दूर कहीं कोई मीठी लोरी गाती है,
मैं सुनता हूँ।

उस नीली-निर्मल धरती पर
सब कुछ शांत-मनोरम लगता,
सब सपने सोने के होते,
औ' सबपर आशीष बरसता।
एक शांति की, सुख की, छाया
पास चली धीरे से आती,
धीमे-धीमे तन-मन हल्का करनेवाली
लोरी गाती।

अब जगने की बेला आकर
बिस्तर पर डैने फड़काती;
दिन धुँधला-सा, सूना-सूना,
लुप्त हुई सपनों की पाँती;
जीवन की चिंताएँ फिरतीं
कर्कश हाय-पुकार मचातीं,
फिर भी कोई धीमे-धीमे
लोरी गाती।

३६ | मैं क्यों आया ?

मैं आया हूँ इस दुनिया में जिसमें देखूं सूर्य-प्रकाश,
नीलम का नभ नव द्युतिमान,
मैं आया हूँ इस दुनिया में जिसमें देखूं सूर्य-प्रकाश,
हिम शिखरों पर किरण-वितान !

मैं आया हूँ इस दुनिया में, देखूं सागर का विस्तार,
घाटी में फूलों का राज,
जब रातों को आँख उठाऊँ देखूं तारों का संसार,
अंबर का रत्नों का ताज !

मैंने जीत लिया विस्मृति को झंकृत कर वीणा का तार,
गा अपने सपनों का राग,
शुद्ध हृदय मेरा कुंदन-सा, भस्म हुए सब दोष-विकार,
मेरे अंतर में है आग।

मैं मधुमय इसलिए कि पीड़ा से निकली है मेरी तान;
देखूं मुझ-सा प्रिय है कौन ?
मुझसे ज्यादा किनकी पीड़ा ? मुझसे बढ़कर किसका गान ?

सारा पृथ्वी तल है मौन।

मैं आया हूँ इस दुनिया में जिसमें देखूं सूर्य-प्रकाश;
अगर दिवस का हो अवसान,
मौत फँसा भी ले यदि मुझको फैलाकर अपना भुजपाश,
गाऊँगा किरणों का गान!

४१ | नीरवता

छा रही है रूस के मुख पर थकावट की उदासी,
छिपे, गहरे घाव की पीड़ा, नहीं जो व्यक्त होती,
एक ऐसी वेदना, जो मूक, सीमाहीन है, आशारहित है—
शीत नीलाकाश ऊपर, और नीचे दूरियों की धुंध फैली।

प्रात आओ औ' पहाड़ी पर खड़े हो—
झलमलाती नदी से हल्का कुहासा उठ रहा है,
शांत, घन वनप्रांत की छाया धरा घेरे पड़ी है,—
दु:ख से जकड़ा हुआ दिल है, नहीं सुख की निशानी।

हिल रहे हैं नहीं नरकुल और मुंह बाँधे सेवार खड़ी हुई है,
एक चुप्पी गगन में मँडला रही है,
एक गूँगापन धरा पर जड़ पड़ा है,
और कितनी दूर तक फैले हुए हैं चरागाह, नहीं पता है;
और सब पर एक नि:स्वन थकन बैठी ऊँघती है।

दिन ढले आओ—किरण की लाल लहरें
निम्न, शीतल घाटियों में बसे गाँवों को डुबातीं,

झुकी, घन वनराजि को अद्भुत बनातीं,
मौन उनका और गहरातीं कि लगता,
दु:ख से जकड़ा हुआ दिल है, नहीं सुख की निशानी।

या कि लगता,
एक प्रेमी ने ललककर प्रेयसी से प्यार माँगा
किंतु पीड़ा का करुण उपहार पाया।
हृदय कर दे क्षमा, लेकिन हृदय मुर्दा हो गया है,
और अपनी मौत पर ख़ुद रो रहा है,
जानता यह भी नहीं क्यों रो रहा है।

४२ | प्यार नहीं चाहिए

काश मेरी पीर की गंभीरता तुम जान पातीं,
प्यार पाकर प्यार से अब अरुचि मुझको हो गई है।
रात आधी, एक बिस्तर, एक तकिया और हम दो,
किंतु मेरा हृदय एकाकी—असंग पड़ा हुआ था।
तुम इसे किस भाँति समझोगी, किया मैंने बहाना—
विस्मरण की कामना में मधुर निद्रा में पड़ा हूँ ?
जान, लेकिन, मैं चुका था प्यार तो इस प्यार के अंदर नहीं है;
मुँदी, निद्राहीन मेरी आँख पर यह भेद सारा
बहुत जल्दी खुल गया था।
प्यार है अज्ञात भाग्य-मरीचिका जो
नई, गहरी वेदनाओं के मरुस्थल में भ्रमाती,
बाध्य करती, संपदा दैवी हमारे पास जो
चुपचाप हम बलिदान कर दें।
प्यार की मैत्री नहीं थिर;
वस्तुतः वह दीर्घजीवी शत्रु ही है।
प्रेयसी, प्रच्छन्न पीड़ा से हृदय मेरा न बेधो;
(कम न भोगा, सहा मैंने।)

४२ | प्यार नहीं चाहिए

काश मेरी पीर की गंभीरता तुम जान पातीं,
प्यार पाकर प्यार से अब अरुचि मुझको हो गई है।
रात आधी, एक बिस्तर, एक तकिया और हम दो,
किंतु मेरा हृदय एकाकी—असंग पड़ा हुआ था।
तुम इसे किस भाँति समझोगी, किया मैंने बहाना—
विस्मरण की कामना में मधुर निद्रा में पड़ा हूँ ?
जान, लेकिन, मैं चुका था प्यार तो इस प्यार के अंदर नहीं है;
मुंदी, निद्राहीन मेरी आँख पर यह भेद सारा
बहुत जल्दी खुल गया था।
प्यार है अज्ञात भाग्य-मरीचिका जो
नई, गहरी वेदनाओं के मरुस्थल में भ्रमाती,
बाध्य करती, संपदा दैवी हमारे पास जो
चुपचाप हम बलिदान कर दें।
प्यार की मैत्री नहीं थिर;
वस्तुतः वह दीर्घजीवी शत्रु ही है।
प्रेयसी, प्रच्छन्न पीड़ा से हृदय मेरा न बेधो;
(कम न भोगा, सहा मैंने।)

बात पिछली भूल जाओ, और सीखो फिर न तुम

आँसू बहाना, प्यार करना।

प्यार जब करता नहीं मैं

तब किसी का प्यार पाने से कहीं यह अधिक सुखकर है

कि विस्मृत कर दिया जाए मुझे बिल्कुल, सुनयने!

४३ | संगतराश

"संगतराश, संगतराश, लिए हथौड़ा-छेनी हाथ
बना रहा तू क्या औ' किसके लिए बता मुझको तत्काल?"
"ठीक मुझे है करना काम, करो न झगड़ा मेरे साथ,
इन पाषाणों से बनने को है बंदीघर की दीवाल।"

"संगतराश, संगतराश, बतला तो दे इतनी बात,
किसके चारों ओर घिरेगी इस कारा की छाया क्रूर?"
"तुम निश्चिंत रहो धनवान, निर्भय रहें तुम्हारे भ्रात,
नहीं कभी तुम हो सकते हो चोरी करने को मजबूर।"

"संगतराश, संगतराश, कौन बहाएगा अविराम
रात-रात भर जाग वहाँ पर नयनों से आँसू की धार?"
"संभवतः मेरा ही भ्रात, या जो मुझ-सा करता काम,
हम अपने कंधों पर लेते ऐसे ही कर्मों का भार।"

"संगतराश, संगतराश, क्या न जायगा उसका ध्यान
उन लोगों पर किया जिन्होंने इस क़ैदीघर का निर्माण?"
"नहीं जठर औ' उसकी ज्वाल हँसी-दिल्लगी के सामान,
तुम रहने दो कुछ कहने को, हमको है इन सबका ज्ञान।"

४४ | आशीष

नयनों में जो तेज तुम्हारे, वह युग-युग तक बना रहे !
क्योंकि उसी से देखी मेरे पागलपन ने अपनी राह ।
अधरों पर जो हास तुम्हारे, वह युग-युग तक बना रहे !
क्योंकि उसी में पाया मैंने मादक मधु का सिंधु अथाह ।

चुंबन में जो गरल तुम्हारे वह युग-युग तक बना रहे !
क्योंकि उसी से नष्ट हुईं सब चिंताएँ, सब शोक-विषाद ।
आलिंगन में जो पैनापन, वह युग-युग तक बना रहे !
क्योंकि उसी ने काट हटा दी बीते दिन की दुःखद याद ।

और प्रणय में है जो ज्वाला, वह युग-युग तक बनी रहे !
क्योंकि अतीत जलाया मैंने अपना उसमें ही सुख मान ।
और हृदय में है जो छाया, वह युग-युग तक बनी रहे !
क्योंकि उसी के नीचे आकर मिला मुझे तापों से त्राण ।

तुममें जो कुछ, जो कुछ तुममें, वह युग-युग तक बना रहे !
चाहे वह वेदना, व्यथा दे, चाहे युग-युग करे अशांत,
क्योंकि स्वर्ग पा गया तुम्हारे आँचल का ही छोर गहे,
जिससे यदि तुम वंचित कर दो, मैं हूँ केवल जड़-उद्भ्रांत ।

४५ | मैं और तुम

मेरा तो संसार अलग है, लो मैं कहता हूँ ललकार,
नहीं तुम्हारी दुनिया मुझको पाएगी अपने अनुसार,
वीणा की झंकार सकेगी कभी नहीं मेरा मन जीत,
मुझको तो केवल भाता है जंगल का निर्जन संगीत।

बैठ सजे कमरों के अन्दर अपने गीत नहीं गाता,
फ़ैशन के सेवक नर-नारी-दल से मेरा क्या नाता;
मैं अपना संगीत सुनाता हूँ वन के बाशिंदों को,
जल-झरनों को, नभ-मण्डल के बादल और परिंदों को।

मैं प्रेमी हूँ, किन्तु नहीं जो पग-पग पर सकुचाता है,
जो तारों की ओर देखता अपने में खो जाता है;
मेरा प्यार मरुस्थल का-सा प्यासा जब जल पाता है,
उसके ऊपर टूट-झपटकर अपनी प्यास बुझाता है।

ऐसी मेरी मृत्यु-सेज को पा न सकेगा जिब्राईल[1]—
एक तरफ़ है खड़ा पादरी, और दूसरी ओर वकील;

---

१. ईसाई धर्म के अनुसार स्वर्ग का एक फ़रिश्ता।

एक भयंकर घाटी में जा छोड़ूँगा मैं अपना प्राण,
पाऊँगा बन की लतिकाओं में अपना अंतिम परिधान !

जाऊँगा मैं नहीं स्वर्ग में जिसका ग्रन्थों में वर्णन,
जिसके पथ पर छाया रहता सुंदर, निर्मल, नील गगन;
मैं जाऊँगा वहाँ जहाँ पर वेश्यागामी, चोर, दलाल,
मुझे देखकर साथ कहेंगे, "भाई, स्वागत, इस्तक़बाल !"

४६ | दो गुलाब

अदन, आदि उपवन, के अति पावन फाटक पर
दो गुलाब के फूल खिले हैं
मुस्कानों से सुरभि लुटाते !
यह गुलाब तो मनोकामना का प्रतीक है;
मनोकामना धरती माता की संतति है।

रंग एक की पंखुरियों का हलका-हलका—
जैसे कोई भोली बाला
पड़ी प्रेम में, लाज-गड़ी हो।
रंग एक का गहरा-गहरा—
जैसे कोई नवयौवन में
आग प्रेम की दबा न पाए,
लपट उठाए, दहता जाए !

औ' दोनों ही
अदन, आदि उपवन, के पावन ज्ञान द्वार पर
खिले हुए हैं।

क्या परमेश्वर की मंशा है
मनोकामना की ज्वाला का
यह रहस्य ही
उनका भी रहस्य बतलाए !

४७ | आशा

सभी ब्रिका-सा, सब कुछ वंचित, सभी लुटा-सा;
महा मृत्यु के काले डैनों की थपेड़ मानो खाया-सा,
जैसे सारा कुछ विषाद का ग्रास बना-सा,
क्यों प्रकाश की एक रेख फिर भी खिचती है ?

दिन में किसी अदेखे, अनजाने मधुवन की
मंजरियों की गंध नगर पर छा जाती है,
और ग्रीष्म के नैश गगन में नए-नए नक्षत्र उदय हो
नए विभा-कण बरसाते हैं ।

सारे गंदे-गिरे मकानों के अंदर कुछ
नया करिश्मा होने को है;
नहीं जानता था कोई क्या आनेवाला,
फिर भी वर्षों ने थे इसके ही पथ जोहे ।

४८ | मधुऋतु के पूर्व

मधुऋतु आने के पहले दिन ऐसे होते :
ढके बर्फ़ से खेत शांत सोते रहते हैं,
पत्रहीन तरुओं में एक मधुर धुन जगती,
हवा सुहानी लगती है, मस्तानी लगती।

अचरज होता, देह अचानक हल्की लगती,
अपना घर भी अपना-सा मुश्किल से लगता,
गीत पुराना, जिसे समझकर मामूली-सा
हमने छोड़ दिया था, हम फिर गाने लगते,
जैसे हो वह नया तराना !

४९ | प्रार्थना

तुम अनजाने दूर देश में,
फिर भी तुमको रही पुकार;
नभ-मंडल भी तो चलता है
तारक-दल का ले आधार।

ओ अनजाने, करो शीघ्र ही
मेरी ओर कृपा की कोर,
मेरे दिन पर शासन करता
दानव अत्याचारी घोर।

दैत्य कंदरा में बैठा है
तजकर न्याय-दया की नीति,
खड्ग-हस्त है, उठे न मेरे
प्राणों से विद्रोही गीत।

मेरा शीश झुकाए रहते
निशिदिन उसके ताड़क त्रास,

जिसमें मुझको याद न आए
गए दिनों का गर्वित हास।

दूर देश के प्रियतम, सुन लो
मेरे अंतर का उच्छ्वास,
'तुम्हें विदित मेरा दुख' जिसमें
हो मेरा अंतिम विश्वास।

५० | सिपाही की मनःस्थिति

(१)

देख चुका हूँ बहुत बार मैं विरह वेदना का मेला,
दुखियों ने भर आहें जैसे दुख की रातों को झेला,
नहीं समय का पहिया रुकता इंतज़ार की घड़ियों पर,
बिछुड़ी हुई भुजाएँ मिलतीं, मिलते बिछुड़े हुए अधर !
मैं निशि में सुख से सोता था जब मुर्ग़ा चिल्लाता था,
जब दुखिया अपने कंधे पर दुख का बोझ उठाता था,
रोकर लाल हुई आँखें जब कोस रही थीं अपना भाग,
औ' नारी के रोदन से मिल गूंज रहा था कवि का राग !

(२)

निशा-मिलन में किसने सोचा बिछुड़न-बेला आएगी,
निर्ममता के साथ विदा का परवाना दिखलाएगी;
और करेगी मुर्ग़े की ध्वनि किस दिशि चलने का संकेत,
जब ऊषा-अनुरंजित होंगे गिरि, बन, गाँव, नगर, घर, खेत।
धूमिल नभ में जब पूरब की फैल रही होगी ज्वाला,
घूम-घूम कर गाय चराता गाता होगा जब ग्वाला,

कोई दूर कहीं जानें की करता होगा तैयारी,
आँखें डबडब होती होंगी, होता होगा स्वर भारी !

(३)

नहीं चाहिए मुझे चाँदनी के कल्पित कोमल तागे,
झोपड़ियों में चलनेवाले चर्खे-तकले के धागे
से ही मैं तो बुन सकता हूँ अपने मतलब की चादर,
अपर-अपूरब को ले उड़ना मेरी अभिरुचि के बाहर।
जीवन के ताने-बाने में क्या नवीनता मिलती है,
नई कली सौ बरस पुरानी कलियों-सी ही खिलती है,
लौट पुरातन फिर-फिर आता नूतन का भ्रम उपजाता,
नहीं अपरिचित कुछ भी जग में, इसका ही जग सुख पाता।

(४)

मुझको चिंता नहीं कि झलमल रेशम के अवगुंठन में,
ऐसी द्युति से संयुत, जिसकी समता केवल कुंदन में,
छैल-छबीली मिट्टी की अलबेली गुड़िया आएगी,
और एक फूलों की दुनिया चारों ओर बसाएगी !
चाहें हम क्यों काल करा दे हमको होनी का दर्शन ?
फूल नारि का, लोहा नर का, आदिकाल से आकर्षण;
परख हमारी वहाँ जहाँ पर वज्रों से रण ठनता है;
वीरों की भौंहों के ऊपर भूत-भविष्यत् बनता है !

५१ | उजड़ी बस्ती

लुप्त हो गया, बता कहाँ तू, ओ मेरे बचपन के घर !
जिसको गिरि ने स्थान दिया था अपनी गोदी में सुखकर,
जिसके आगे खिला हुआ था नीलम-से फूलों का खेत,
जिसके इधर-उधर फैली थी पीली और सुनहली रेत।
लुप्त हो गया, बता कहाँ तू, ओ मेरे बचपन के घर !

पास नदी थी और पार से मुर्ग़े की ध्वनि आती थी,
वहीं किसी ग्वाले की गोरी छोरी गाय चराती थी।
लहरों से क्रीड़ा करने को दिन को किरणें आती थीं,
रातों को जल की धारा में तारक-पंक्ति नहाती थी।
पास नदी थी और पार से मुर्ग़े की ध्वनि आती थी !

प्रातःकाल उधर पूरब से सूरज नित्य निकलता था,
और गाँव के ऊपर होता पश्चिम दिशि में ढलता था,
और उठा करती थी आँधी उस कोने के जंगल से,
और हुआ करती थी वर्षा उस घाटी के बादल से।
प्रातःकाल उधर पूरब से सूरज नित्य निकलता था !

किंतु समय के प्रलय-घनों ने कब इस बस्ती को घेरा,
कब मूसलधारा जल बरसा, ढहा-बहा वह घर मेरा,
हो बर्बाद गई कब मेरे नीले फूलों की खेती,
चली गई कब रूठ यहाँ से कंचन-चमकीली रेती !

किंतु समय के प्रलय-घनों ने कब इस बस्ती को घेरा !

५२ | सांध्य शांति

सांध्य शांति बाग़ों से छिपकर आ जाती है,
खिड़की के शीशों पर आती चमक अचानक,
सूर्यास्त ऐसा लगता है जैसे कोई
स्वर्ण-हंस उतराता सर में स्वप्न देखता।

स्वर्ण-साँझ की स्वर्ण-शांति का शत अभिनंदन!
छाया, देखो, दूर कहाँ तक चली गई है!
छोटी-छोटी चिड़ियों के दल छत पर उड़कर
सांध्य गीत से सांध्य नखत का स्वागत करते।

बाग़ों के उस पार दूर के चरागाह में
घिरी हुई फूलों की झाड़ी से चौतरफ़ा
एक श्वेत-वस्त्रा सुकुमारी बैठी गाती
एक सुरीला गीत हवा पर जो लहराता।

खेतों से ठंडक फैलानेवाली कुहरे
की नीली धारा धीरे-धीरे आती है—
खड़ी प्रतीक्षा में मेरी ड्योढ़ी के ऊपर
कौन गुलाबी गालोंवाली मुसकाती है!

५३ | पतझड़ की शाम

सर के जल के अरुणिम तल पर
पीले पत्ते नाच रहे हैं गोलाई में,
जैसे एक तितलियों का दल
घूम रहा हो पुष्प-गुच्छ पर होड़ लगाकर।

इस नीरव पियराती घाटी
में यह न्यारी संध्या कितनी प्यारी लगती !
मस्त हवाओं ने यौवन की
अठखेली में नग्न कर दिया है पेड़ों को;

घाटी ठंडी, घट में ठंडक;
संध्या का बादल है जैसे झुंड भेड़ का :
ऊँघ रहा बगिया का फाटक
औ' उसकी घंटियाँ मौन हैं, सोई-सी हैं।

मेरा तन, मेरा मन भी है
शांत इस तरह जैसे पहले कभी नहीं था।

जी करता,
तट-तरु हो जाऊँ,
जिसकी लंबी, लचकीली औ' सघन टहनियाँ
झुककर नीचे बहती धारा को सहलातीं।

ध्यान-मग्न चंदा-सा हूँ मैं,
दूब कुतरता पड़ा मौज से रह सकता हूँ।
औ' उदार उल्लास, जाग मेरे अंतर में,
प्यार करूँ सब को, न किसी से कुछ भी चाहूँ!

५४ | ईंट ढोनेवाला

संध्या को जब काम ख़तम कर अपने घर को आता हूँ
श्रमकण से भीगे कपड़े को तन पर चिपका पाता हूँ;
अंधकार में मेरे कपड़े, लेकिन, स्वर पा जाते हैं,
लाल ईंट का लाल गीत वे कंठ खोलकर गाते हैं !

गाते हैं, कैसे नीचे से ऊपर, उसके भी ऊपर
मैं चढ़ता जाता हूँ अपना लाल बोझ सिर पर धरकर,
और पहुँचता चढ़ते-चढ़ते मैं सबसे ऊँची छत पर,
जिसके ऊपर तना हुआ है नग्न, घना नीला अंबर।

कैसे चारों ओर क्षितिज पर आँखें फिर घूमा करतीं,
जहाँ हवा सिहरी कुहरे से है ठंडी आहें भरती,
जहाँ उषा भी दिखलाई देती है अपना भार लिए—
लाल-लाल ईंटों का अपने मस्तक पर संसार लिए !

संध्या को जब काम खतम कर अपने घर को आता हूँ
श्रमकण से भीगे कपड़े को तन पर चिपका पाता हूँ;
अंधकार में मेरे कपड़े लेकिन स्वर पा जाते हैं,
लाल ईंट का लाल गीत वे कंठ खोलकर गाते हैं !

५५ | रूसी गाँव

देखता हूँ दूर तक मैदान फैले,
मंद बहती हैं हवाएँ,
गाँव एकाकी घिरा सुनसान से है
कर रहा है सायँ-सायँ···यँ···

झोपड़े कुछ कुगढ़ लकड़ी के खड़े हैं
अधगिरे-से रास्ते पर,
ज्यों खड़ी हों बूढ़ियाँ सुध-बुध-विहीना,
दंत-हीना, देह-जर्जर।

जोड़ छत के खुल गए हैं, पड़ रही हैं
जा-ब-जा उनमें दरारें,
रात-दिन चलती हवाएँ आह भरती,
धूलि की आतीं फुहारें।

आँख-जैसी खिड़कियों से देखते हैं
झोपड़े दूरी क्षितिज तक,

ग्रौर ग्राता है नज़र फैलाव केवल
घास-मिट्टी का भयानक।

सूर्य ऊपर, भूमि नीचे, बीच टूटी
ज़िंदगी के चार टुकड़े,
दिवस ग्राते, दिवस जाते पर किसी के
हेतु मुसकाते न मुखड़े।

दिन गुज़रते, मास कटता, साल हटता,
एक-सा हर प्रात होता,
फ़सल उगती, फ़सल कटती, ज़िंदगी का
म्लान मुख कोई न धोता।

हवा भारी हो गई, ऊमस-भरी,
ग्रासार यह तूफ़ान का है,
ग्रब समय घन के सघन उत्थान का है,
वज्र के ग्रभियान का है।

एक गहरी लाल, पागल-सी लपट उठ
बादलों को चीर देगी,
एक झाड़ी ताज-सी गिरि पर लगी जो
टूट सागर में धँसेगी।

५७ | नई शक्ति

दुख की मारी, दर्द-सताई इस दुनिया में,
जिसपर छाया बहुत दिनों से अंधकार है,
संग्रामों के तुमुल नाद के प्रत्युत्तर में,
नई शक्ति ने जन्म लिया है, और गगन जगमगा उठा है।

उसके सिर के राजमुकुट से फूटी किरनें
तुरत जगत के घन अँधियारे को भेदेंगी,
और समर से ऊबे सैनिक उसके जगमग
सिंहासन को जनता के अंदर खोजेंगे।

हम कि जिन्होंने आँधी, अंधड़, अंधकार की
रातें ही केवल जानी थीं, स्वर्ण किरण में
स्नान करेंगे औ' यह दुनिया गर्द-गुबार
पुराना अपना झाड़-झूड़कर नीलम की साड़ी पहनेगी !

५८ | भ्रम-विमुक्त

हँसे हैं नादान मुझपर
क्योंकि मैंने
नौजवानी में लिखा था गीत ऐसा
जिसे सुनकर के निराशा में
मधुर आशा जगी थी,
और जो था अंतहीन सफ़र
मिला था लक्ष्य उसका।

जिसे मैंने दुरदुराया
और ठुकराया कभी था,
वही दुनिया
अजनबी मेरे लिए बन
है खड़ी प्रतिकूल मेरे।
चोट जो मैंने कभी दी थी
मुझी पर लौटती है;
औ' कसौटी पर नई
होता नहीं साबित खरा मैं।

छोड़ दो मुझको,
मुझे मालूम है मरना मुझे है,
करुण मेरी कल्पनाओं को कुचल दो,
किंतु है विश्वास मुझको यह
कि मेरी मधुर दुनिया,
मैं रहूँ, न रहूँ,
सभी अन्याय मानव के सहन कर भी जिएगी
और होगी विजयिनी भी।

छोड़ मधुशाला न जाऊँगा कहीं मैं,
पिए हूँ, पर क्यों तुम्हें आश्चर्य इसपर ?
आज मेरी खुशी बैठी हुई रथ पर
उड़ी जाती है
चँदीले धुँधलके में !
उड़ी जाती चढ़ी रथ पर,
चक्र जिसके गड़े जाते हैं
समय की लीक की गहराइयों में,
बर्फ़ से जो ढक गई हैं,
और घोड़ों के खुरों से
उठ चँदीला धुँधलका बस
प्राण-मन पर छा रहा है।

अँधेरे में छिटकती चिन्गारियाँ हैं
जो निशा की कालिमा पर मुसकरातीं;

५८ | भ्रम-विमुक्त

हँसे हैं नादान मुझपर
क्योंकि मैंने
नौजवानी में लिखा था गीत ऐसा
जिसे सुनकर के निराशा में
मधुर आशा जगी थी,
और जो था अंतहीन सफ़र
मिला था लक्ष्य उसका।

जिसे मैंने दुरदुराया
और ठुकराया कभी था,
वही दुनिया
अजनबी मेरे लिए बन
है खड़ी प्रतिकूल मेरे।
चोट जो मैंने कभी दी थी
मुझी पर लौटती है;
औ' कसौटी पर नई
होता नहीं साबित खरा मैं।

छोड़ दो मुझको,
मुझे मालूम है मरना मुझे है,
करुण मेरी कल्पनाओं को कुचल दो,
किंतु है विश्वास मुझको यह
कि मेरी मधुर दुनिया,
मैं रहूँ, न रहूँ,
सभी अन्याय मानव के सहन कर भी जिएगी
और होगी विजयिनी भी।

छोड़ मधुशाला न जाऊँगा कहीं मैं,
पिए हूँ, पर क्यों तुम्हें आश्चर्य इसपर ?
आज मेरी खुशी बैठी हुई रथ पर
उड़ी जाती है
चँदीले धुँधलके में !
उड़ी जाती चढ़ी रथ पर,
चक्र जिसके गड़े जाते हैं
समय की लीक की गहराइयों में,
बर्फ़ से जो ढक गई हैं,
और घोड़ों के खुरों से
उठ चँदीला धुँधलका बस
प्राण-मन पर छा रहा है।

अँधेरे में छिटकती चिन्गारियाँ हैं
जो निशा की कालिमा पर मुसकरातीं;

दूर—मुझसे दूर—मेरी ख़ुशी के रथ की
सुनहरी घंटियों का स्वर सुनाई दे रहा है,
आँख से ओझल हुआ जो।

. और सारी रात
रथ की, रास की घन घंटियाँ बजती रही हैं,
किन्तु, ओ परित्यक्त मेरी आत्मा ! तू
थकी, हारी हुई,
छाई हुई है तुझपर ख़ुमारी।

५६ | हमारी कूच

इन्क़लाब के पैरों से तुम रौंदो तो मैदानों को,
गर्वित शृंग शिखर-सी रक्खो पेशानी को, शानों को;
एक नया सैलाब उठाने हम दुनिया में आते हैं,
देखो कैसे इसमें जग के सब घर-नगर नहाते हैं !

रंग-बिरंगी सुबह, शाम, दिन, रातों की घड़ियाँ जातीं,
एक दूसरे से जुड़-जुड़कर वर्षों की कड़ियाँ जातीं,
गति ही एक हमारी देवी, उसके उग्र उपासक हम,
सीने में रणभेरी बजती, हम फिर कैसे सकते थम !

हम कुंदन के डले हमारी आभा-विभा निराली है,
हमें नहीं डर इसका हम पर आग बरसने वाली है,
नहीं हमारे गीतों से मज़बूत कहीं हथियार बने,
दिशा-दिशा से गुंजित नारे हम पर बनकर ढाल तने !

हिम से ढकी हुई धरती के ऊपर फिर से घास उगी,
जगकर प्रकृति गई थी सो जो, सो लेने पर पुनः जगी,

इंद्रचाप चमका सतरंगा, गंगा चमकी अंबर की,
साल चौकड़ी मार चले पर डिगी लगन कब अंतर की !

तारों का मत करो भरोसा, वे तो हैं जड़-भीत सभी,
उनके बिना नहीं रुकने का क्रांति-कंठ का गीत कभी ;
ज्योतिपुत्र हम ज्योतिर्मय नभ से केवल इतना चाहें,
हमें रहें आमंत्रित करती नव नक्षत्रों की राहें !

मस्ती का मधु पिओ, लगाओ पीकर जोशीले नारे,
ख़ून जवानी का नस-नस में दौड़े औ' लहरें मारे,
चढ़ें हौसले आसमान पर औ' ज़मीन पर बढ़ें क़दम,
छाती की धड़कन में बजता लौह दमामा हो हरदम।

६० | निशा और उषा

उषा काल में कहा डाल ने जब सहला चिड़ियों का पर,
जागो, जागो, आने को है गाने की बेला सत्वर,
फटक मेंह-भीगे पंखों को वे नीड़ों से निकल पड़ीं,
मलय पवन पर कलिका झूली, तन से जल की बूंद झड़ी।

हुई निशा में सहसा वर्षा, जल की ऐसी बाढ़ चली,
लगा, नहीं यह रहने देगी एक पेड़, फल, फूल, कली;
युग-युग के आँसू संचित कर मैंने जिसको सींचा था
उसे वहा क्या ले जाएगी एक जलधि की लहर बली !
दुख की घड़ियों में यह बगिया मेरे मन में आई थी,
दुख की घड़ियों में ही मैंने इसकी जड़ बिठलाई थी,
दुख की घड़ियों ने ही इसको उगते-बढ़ते देखा था,
कल ही पहले-पहल निशा में इसकी छवि मुसकाई थी !
सारी रात प्रभंजन मेरी खिड़की को खटकाता था,
सारी रात प्रभंजन मेरे सपनों को डरपाता था,
द्वार खुला, घुस मलय पवन का एक सरस झोंका बोला—
वृष्टि न थी, तेरे आँसू का कोई मोल चुकाता था !

उषा काल में जगकर, निशि के दुख-दुःस्वप्नों को भूली,
गंधवाह के मधुप्रवाह में कलियाँ पड़ती थीं फूली,
फूल खिले पड़ते थे अपनी खोल पखुरियों-सी पलकें,
झूम रहे थे तरुवर, लतिका की लहराती थीं अलकें !

६१ | कमरा

लाल ईंट का बना हुआ है कमरा मेरा,
छोटा है, संदूक़ जिस तरह;
इससे छोटी क़ब्र मिलेगी; फिर कमरे की
भला शिकायत करूँ किस तरह।

यहाँ दुबारा मैं आया हूँ, जैसे कोई
लाया मुझको यहाँ खींचकर,
दीवारों पर चिपका है काग़ज़ मटमैला,
दरवाज़ा करता है चर-मर।

कुंडी खोली नहीं कि सहसा प्रकट हुईं तुम,
लट मेरा माथा सहलाती,
कैसा अद्भुत लगता है फिर-फिर अधरों को
पाटल-पंखुरियाँ छू जातीं।

वस्त्र तुम्हारे सर-सर करते जैसे करतीं
बर्फ़ गिराती सर्द हवाएँ;

करता हूँ सौ वार तुम्हारा स्वागत, सुंदरि,
देता हूँ सौ बार दुआएँ।

निष्कलंक तुम नहीं, व्यर्थ इसपर पछताना,
तुम ऊँची विश्वास-नसेनी लेकर आईं
और उतारी नीचे तुमने मेरी भूली जीवन-पुस्तक,
जैसे किसी आलमारी से,
और फूँककर उसपर बैठी धूल हटाई!

६२ | हैमलेट

शोर बंद हो गया। मंच पर मैं हाज़िर हूँ,
दरवाज़े के पास खड़ा हो सोच रहा हूँ,
दूरागत प्रतिध्वनियाँ सुनता,
मेरे जीवन में जो कुछ घटनेवाला है।

रात अँधेरी मेरी ओर चली आती है,
शत-शत नाट्य-घरों में होती;
परम पिता, यदि संभव हो तो,
अबकी बार ज़हर का प्याला पड़े न पीना।

दुर्निवार्य उद्देश्य तुम्हारा मान्य मुझे है,
मैं अपनी भूमिका अदा करने को तत्पर,
किंतु नया यह नाटक, मैं नव अभिनेता हूँ,
एक बार मुझको अपना होकर जीने दो।

आह! जानता हूँ अंकों का क्रम निश्चित है,
नियत अंत से बचना संभव कभी नहीं है,

मैं एकाकी हूँ, पाखंडी-दल रचता है ताना-बाना।
(फँसना होगा!)
[1]अपना जीवन जीना ऐसा सरल नहीं है
जैसे खेत पार कर जाना!

६३ | बच्चे

प्रभु, इन संकट की घड़ियों में
अपने लिए प्रार्थना करने का
दुःसाहस कौन करेगा ?
हम पापिष्ठों को तुम अपने क्रोधानल में
भले भस्म कर डालो,
लेकिन इन बच्चों के प्राण बचाओ ! ......
इन बच्चों के—
जो गलियों में, दिन की उजियाली घड़ियों में,
खेल-खेलकर खेल युद्ध का शोर मचाते,
संध्या को घुसमुड़ सो जाते;
इन बच्चों के—
जो सड़कों पर घूम-घूम अखबार बेचते,
भीम भंयकर खबरों का नारा बुलंद कर,
और अचंभा करते, हम क्यों
घबरा उठते उनकी भोली-भाली आँखें देख-देखकर;
इन बच्चों के—
जो अपने गुड्डे-गुड़ियों की

यही हमारे अंतिम आश्वासन हैं,
हमसे इन्हें न बिलगा;
यही सीढ़ियाँ हैं वे छोटी
जिनके द्वारा बड़े-से-बड़े पापाचारी
तुझको पाकर
बन जाते हैं तेरी करुणा के अधिकारी !

६४ | चाँद पर

मैंने देखा स्वप्न, चाँद पर पहुँच गया हूँ।
जैसे पृथ्वी की सब चीज़ें वहाँ पहुँचकर
भार-हीन हो जाती हैं वैसे ही मेरी
सारी संसारी चिंताओं का मुझपर से भार हट गया।

यदि सचमुच ऐसा हो जाए औ' निश्चय ही
वज़न विचारों से हट जाए, बस रह जाएँ
चंद्र लोक में भाव अजाने, ख़्याल हवाई,
सपने धुँधले, उड़ा करे व्यक्तित्व शून्य में,

तो यह भार-हीनता कितनी बोझिल होगी!
हुड़क उठेगी अपनी परिचित, पूत, पुरातन
धरती पर वापस आने की, पग रखने की,
चन्द्र-जनित पर झटक-झाड़कर,
अपने सुख, दुख, इच्छाओं के सहज भार को
सहज भाव से अपनाने की।

○ ○ ○

अकारादि क्रम से प्रथम पंक्ति-सूची

---

१. कोष्ठकों में कविताओं की क्रम-संख्या दी गई है ।